लागत का ब्योरा

खर्चा जो लगा है

कागज़	३९०)
छपाई	३४०)
बाइंडिंग	७०)
लिखाई	३४३)
	११४३)
व्यवस्था, विज्ञापन, आदि खर्च	७४०)
	१८८३)

कुल प्रतियाँ २१००

लागत मूल्य प्रति कापी ॥।≈)

खर्चा जो पुस्तक पर लगाया गया

प्रेस का बिल व लिखाई	११४३)
व्यवस्था, विज्ञापन आदि खर्च	३०७)
	१४५०)

कुल प्रतियां २१००

एक प्रति का लागत मूल्य ॥≈)

इस प्रकार इस पुस्तक में ४३३) की घटी उठाई गई है।

मुद्रक और प्रकाशक

जीतमल लूणिया,

सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर

उल्थाकार का वक्तव्य

इस उल्थे की तैयारी में उल्थाकार ने मूल ग्रन्थकार से बड़ी सहायता पाई है, जिसके लिए वह कृतज्ञ है। फलतः इस उल्थे में ऐसे विषय भी जहाँ तहाँ हैं, जो छपी हुई मूल पुस्तक के पहले संस्करण में नहीं हैं। इस दृष्टि से इसमें मूल से अधिक विशेषता है।

इसकी भाषा विषय की कठिनता के कारण कुछ जटिल है। वैज्ञानिक विषय का सरल सुबोध भाषान्तर बहुत कठिन बात है। ता भी पाठकों के बोधार्थ जहाँ तहाँ उल्थाकार की भी टिप्पणियाँ हैं

इस पुस्तक में सन् ईसवी का ही प्रयोग है। मूल के लेखक का राष्ट्रीय संवत् ईसवी है।

मूल पोथी में परिशिष्ट (घ) अधिकांश अंग्रेज़ी की पुस्तकों की सूची थी। इसे इस उल्थे के अन्तिम परिशिष्ट (झ) में स्थान मिला है जो अधिक उपयुक्त समझा गया।

अंग्रेज़ी पुस्तकों के हवाले की पाद टिप्पणियों का उल्था नहीं किया गया। वह ज्यों की त्यों रख दी गई, क्योंकि उनसे अंग्रज़ी पढ़ सकने वाले ही लाभ उठा सकते हैं।

इस पुस्तक को पढ़कर चरखे के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों और अर्थशास्त्रियों के रहे-सहे सन्देह और बची-खुची शंकाओं का भी निवारण हो जाता है। "हाथ की कताई-बुनाई" में ऐतिहासिक दृष्टि की प्रधानता है। उसे पढ़कर इस साम्पत्तिक और वैज्ञानिक दृष्टि से भी अनुशीलन करना चरखे के प्रकृत महत्व और मूल्य को समझने के लिए जरूरी है। जो लोग चरखा आन्दोलन की हँसी उड़ाते थे, उनसे सप्रेम अनुरोध है कि इस पुस्तक को आदि से अन्त तक पढ़ डालने का कष्ट अवश्य उठावें।

बड़ी पियरी काशी।
श्रावणी १५, १९८५

रामदास गौड़

"हाथ की कताई हमारी बहिनों को लाचारी के दुराचार से बचा लेगी। यह तो जरूरी बात है कि इससे भीख मांगने का पेशा उठ जाय। यह हमारी लाचारी से उपजी बेकारी और सुस्ती को मिटा देगी। चित्त को स्थिर कर देगी। और मैं तो सचमुच यह विश्वास करता हूं कि जब करोड़ों आदमी इसे धर्म्म-संस्कार की तरह ग्रहण कर लेंगे, तो यह हम सबको भगवान् के सन्मुख कर देगी। कताई का नैतिक पक्ष यही है—

—महात्मा गांधी

"अरे! सुस्त आदमी! मेहनत ने ही तुझे हिंडोले में झुलाया है, तेरे संकट के जीवन को पाला पोसा है। मेहनत न होती तो तेरे बदन पर जो बना हुआ ऊन और रेशम है, वह गड़ेरिया के घर भेड़ों के बदन पर और तूत के पेड़ों पर होता। वायु-मंडल को छोड़कर संसार की तुच्छ से तुच्छ वस्तु जो आदमी के काम आती है, मेहनत की ही बदौलत है। और भगवान् के विवेकमय नियम से हवा में सांस लेना भी इसी मेहनत की बदौलत है।

—चांपिन

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

पाँचवाँ अध्याय

छठा अध्याय

विषय पृष्ठ

सातवाँ अध्याय

आठवाँ अध्याय

नवाँ अध्याय

दसवाँ अध्याय

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

परिशिष्ट (क)

प्रस्तावना

पहले जमाने में हिन्दुस्तान बड़ा धनी देश समझा जाता था। कम-से-कम मुसलमानों की जीत के पहले तो सम्पत्ति सारी प्रजा में फैलकर बँटी हुई थी। उसकी पैदावार और धन का बड़ा नाम महान सिकन्दर के समय से यूरोप में फैला हुआ था और अमेरिका की खोज तो यूरोपवालों ने पहले-पहल इसी आशा से की कि भारत की सम्पत्ति से कुछ हिस्सा मिलेगा। यूरोप के इतिहास में नाविकता, देशों की खोज, तिजारत, साहूकारी और यहाँ तक कि राजनीति भी जो इतनी बढ़ी और इनका जो इतना विकास हुआ, सबका पहला प्रवर्तक भारत के धन का लोभ ही था।

परन्तु आज, जब कि भारत फिर भी बहुत सी सम्पत्ति की खान समझा जाता है, भारत के लोग संसार के दरिद्रों में गिने जाते हैं। पच्छाहीं देशों की जो दशा है, उससे मुक़ाबला करने लायक शब्दों में तो उनकी दरिद्रता का अन्दाजा करना कठिन है। पच्छाँह में तो सम्पत्ति और दरिद्रता का अन्दाज़ा, कितनी पूँजी देना चुकाकर बची है, कितनी आमदनी है, बैंक के हिसाब में कितना निकलता है, दामों की दर क्या है, रहन-सहन का ख़र्च क्या है, इन विचारों से लग सकता है। परन्तु भारतवर्ष में कुछ ऐसी दशायें हैं जिनसे इस तरह की नाप ठीक काम नहीं देती। अभी तक संयुक्त परिवार की पद्धति इतनी फैली हुई है

कि घोर दरिद्रता के बोझ को बाँटने में काफी मदद देती है। (परन्तु यह याद रहे कि इससे सम्पत्ति नहीं बढ़ती।) दान देना धार्मिक कर्तव्य समझा जाता है और बड़ी दृढ़ता से उसका व्यवहार है। कुछ कष्ट जाति और उपजाति की विकटता में बँट जाते हैं। बदले का लेनदेन और सौदा कुछ पेशों में और जिलों में अबतक चलता है, इसलिए रुपये की आमदनी से कुछ ही विश्वास-योग्य अटकल कर सकते हैं। पच्छाँह की बराबरी की साख और कागज के लेनदेन की रीति तो शायद कहीं भी उतनी नहीं चलती। जहाँ इतनी भारी आबादी किसानों की हुई है वहाँ बहुत सी आमदनी सीधे अन्न के रूप में होती है। उत्तरीय प्रदेश और विशेषकर पहाड़ों को छोड़कर ऋतु ऐसी है कि तापने के लिए प्रायः ईंधन की जरूरत नहीं पड़ती और रहन-सहन में बड़ी सादगी से काम चल जाता है।

इन सुभीतों का साधारण रीति से ध्यान रख लेने पर भी हम देखते हैं कि भारत की व्यापक कुचल डालनेवाली दरिद्रता से इनकार नहीं किया जा सकता। उसके प्रमाण शहरों की अपेक्षा गाँवों में कहीं अधिक स्पष्टता से दिखाई पड़ते हैं, इसलिए संयोग-वश कभी के आये गये यात्री को पूरी तौर पर स्पष्ट नहीं होते आबादी में सैकड़े पीछे नव्वे आदमी गाँवों में, बल्कि रेल से प्रायः बहुत दूर के देहात में रहते हैं। सभी सभ्य देशों में फौती-पैदाइश के अंक और जनता के स्वास्थ्य की दशा से ही देश की दरिद्रता की कमी-बेशी का ठीक-ठीक अन्दाजा किया जाता है। भारतवर्ष के लिए भी ठीक यही नियम है, परन्तु हाल में यह कोशिशें होती रही हैं कि बाल-विवाह की कुरीति के ही सिर सारा

दोष मढ़ा जाय। संसार के सब राष्ट्रों में से भारतवर्ष के ही मनुष्यों को जीते रहने की औसत आशा सबसे कम है, और दिन पर दिन घटती ही जाती है। बच्चों की मरण संख्या बेठिकाने बढ़ती चली जा रही है। रोग के फैलने की दर अत्यधिक बढ़ गई है। दरिद्रता का एक थोड़ा-सा प्रमाण वह व्यापक निरक्षरता भी है जो गाँवों में प्रायः सभी जगह स्पष्ट है। खेतों के अत्यन्त छोटे छोटे टुकड़े हो गये हैं और हर किसान की जोत थोड़ी थोड़ी ही रह गई है। यह बात दरिद्रता का एक कारण भी है और प्रमाण भी। हर आदमी ऋणी है और ऋण बढ़ता ही जाता है, सूद की दर बहुत ऊँची होती है और थोड़ी-थोड़ी रकम के कर्ज लेने की रीतियों का ध्यान करके आदमी काँप उठता है। रहन-सहन की सामग्री चाहे किसानों की देखी जाय, चाहे शहर के मजूरों के परिवार की देखी जाय, वह इतनी थोड़ी है कि दरिद्रता प्रत्यक्ष है। यह पुराना अभियोग है कि भारत में चांदी-सोना बाहर से बहुत आता है, उसे यहाँ के लोग जमा कर लेते हैं, धन गाड़ रखते हैं, और गहने बनवाकर पहनते हैं। परन्तु जब हम बाहर से आई हुई चाँदी और सोने के अंकों को जोड़ लेते हैं और इनके वार्षिक आयात पर भी हिसाब लगाते हैं, और कुल आबादी के अंक से भाग देते हैं, और यह बात भी जब समझ में आ जाती है कि भारत में रुक्का, पुर्जा, चेक, हुँडी इत्यादि साख के कागज काम में आने की चाल अत्यन्त कम है, इसलिए यहाँ पच्छाँह से कहीं ज्यादा व्यापार में सिक्कों का चलन बढ़ा हुआ है, और जब सिक्कों के घिसने का हिसाब कर लिया जाता है, और जब पच्छाँह के देशों में सिर पीछे चाँदी-सोने के खर्च

का हिसाब किया जाता है, तब,—यह गाड़ रखने, गहना बनवाने आदि का अभियोग भारी मूर्खता सिद्ध हो जाती है। जिन जाँच करने वालों ने आर्थिक और सामाजिक खोजों का अनुभव किया है, जिन्होंने गाँवों और शहरों दोनों की वास्तविक दशाओं का अनुशीलन किया है, प्रायः वह सभी सहमत हैं कि दरिद्रता भयानक रीति से बढ़ी हुई है और सर्वत्र व्याप रही है। मद्रास-विश्व-विद्यालय के प्रोफ़ेसर गिल्बर्ट स्लेटर सच ही कहते हैं कि भारतवर्ष की दरिद्रता एक महा भयानक सत्य है।*

इन सब बातों को अपने मन में रखकर भी सिर पीछे वार्षिक आय के जो अंक मिल सकते हैं उन्हें हम यहाँ देंगे। जो हेतु हम दिखा चुके हैं उन हेतुओं से यद्यपि यह अंक पर्याप्त नहीं हैं, परन्तु तोभी इन अंकों से और देशों के अंकों का मिलान करके हमको वास्तविक दशा का कुछ अनुमान करने के लिए संक्षिप्त आधार मिलता है। यह कहा जा सकता है कि जो भारतवासी अपनी दशा का मुक़ाबला अपने पच्छाहीं भाई से कर रहा है यह अंक उसकी मानसिक दशा का कम से कम पता जरूर देते हैं। और आराम तो वह दशा है, जिसका एक अंश केवल अनुभव ही हो सकता है, इसलिए इन अंकों से, और जो मानसिक अवस्था यह अंक व्यक्त करते हैं उससे, साधारण रीति से भरसक स्थिति का मात्रात्मक पता जल्दी ही लग जाता है।

---

* Introduction to P. P, Pillai's *Economic Conditions in India* Routledge, London, 1925.

भारत में सिर पीछे वार्षिक आय अत्यन्त थोड़ी है। ब्रिटिश और भारतीय अर्थनीति-विशारदों ने सन् १९०० से लेकर अब तक जो अटकल की हैं वह ३०) से लेकर ११६) वार्षिकतक होती हैं। सन् १९०१ में उस समय के वायसराय लार्ड कर्जन ने अनुमान किया था कि भारतीयों की आय सिर पीछे ३०) है। सबसे पिछला अन्दाजा सन् १९२५ में कलकत्ता विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर घोष ने किया है जो ४६।≈) है। भारतीय जाँच करने वालों के और अर्थशास्त्रियों में शायद ही कोई ऐसा हो जो यहाँ की सिर पीछे आय की अटकल ५०) वार्षिक से अधिक लगाने को तैयार हो और इस तरह के अट्ठारह अनुमानों में केवल तीन हैं, जो ६०) से भी ऊपर जाते हैं, और इनमें से दो अनुमान तो एक ही व्यक्ति द्वारा दो भिन्न कालों में किये गये हैं। *

---

* इन अंकों की तालिका "हाथ की कताई बुनाई" नाम की पुस्तक में दी गई है। देखो, सस्ता मण्डल, अजमेर, की पोथी पृ० १२९-१४०. See also, *Mysore Economic Journal* for April, 1925, p. 177.

For detailed study and comment on Indian poverty and its causes see, H. H. Mann—*Land and Labour in a Deccan Village*, Oxford University Press, Vol. I, 1916, Vol, II, 1921; M. L. Darling—*The Punjab Peasant in Prosperity and Debt*, Oxford University Press, 1925; *Wealth and Welfare of the Punjab*, by Mr. H. Colvert, Ragistrar of the Co-operative Department of the Punjab Government;

गाँवों में वहाँ के जमा खर्च का विस्तार से हिसाब लेने से भी ऐसे ही फल निकलते हैं। (डाक्टर मान के अनुसार*

Study of Economic Conditions in Bombay Presidency also by H. H. Mann, Agricultural Expert to the Bombay Presidency Government: *Economic Life of a Bengal District*, by J. C. Jack, the then Land Settlement Officer to the Bengal Government, 2nd Edn., 1927, Oxford University Press: S. Higgin bottom *The Gospel and the Plow*. Macmillan, New York, 1921; Gilbert Slater—*Some South Indian Villages*, University of Madras. Economic Studies, Oxford Univ. Press. 1918; Venkatasubramanyar, *Studies in Rural Economics*, Vazhamangalam, Natesan & Co., Madras, 1927; B. G. Sapre—*Economics of Agricultural Progress*, Sangli; S. K. Iyengar—*Studies in Indian Rural Economics*. P. S, King and Son, London, 1927; R. Mukerji—*Rural Economy of India*, Longmans Green, London, 1920; Brij Narayan—*The Population of India*, R, Krishna, Lahore, 1926/ *Economic Conditions in India*, by P. P. Pillai, Member of the Economic and Financial Section League of Nations Secretariat, Geneva, Routledge, London, 1925; E, D, Lucas-*Economic Life of the Punjab Village*, Lahore, 1922; S, S, Aiyar—*Economic Life in a Malabar Village*, Bangalore

सन् १९१७ में) दक्खिन में ४४) से लेकर, बंगाल में (जे०सी० जैक के अनुसार १९०६-१० में) ५२), मद्रास में (प्रोफ़ेसर

Printing and Publishing Co., Banglore, Mysore, 1925; G. Keatinge *Rural Economy in the Bombay Decoan*, Longmans; Green, London, 1917; Shah and Khambatta—*Weath and Taxable Capacity of India*, Taraporeuala, Bombay, 1925; N, Ranga—*The Deltic Villages on the East Coast, Bezwada, 1926;* S. G. Pananikar—*Wealth and Welfare of Bengal Delta*, Calcutta Univ. Press, 1925; Sir Theodore Morrison—*Economic Orgazniation of the Indian Province,* John Maurray, London, 1906; *Enquiry into Working Class Budget in, Bombay City*, Government Labour Office Bombay, 1921 1922; *India in 1923-24*, by Rushbrook Williams, then Director of Public Information, Government of India, pp. 186, 190, 197, 198; *Material and Moral Progress of India*, Report for 1922, p. 198 Royal Stationers Office London; Cmd. 1961 of 1923; W. S. Thompson—*Britains Population Problem as Seen by an American The Economic Journal*, London. June, 1926; *The Indian Rural problem*, Anon. (Perhep s S. Higgin boltom of Allahabd); In the *Round-Table*, London, June, 1925; R. K, Das—*Wastage of India's Man Power*

स्लेटर के अनुसार १९१६-१७ में) ७२), और पंजाब में १००) तक (एम० एल० डारलिंग के अनुसार सन् १९२५ में) आता है अंग्रेजी सिक्कों के हिसाब से ५०) लगभग ३ पौंड १५ शि० के बराबर होगा और अमेरिका के संयुक्तराज्यों के सिक्कों में साढ़े अठारह डालर के बराबर होगा। अब देखिए कि संयुक्तराज्यों में

The Modern Review; Calcutta, April, 1927; N. N. Ganguli—*The Probem of Rural Life in Indian, Asiatic Review*, July, 1925; Report of the Indian Advisory Committee of the Independent Labour Party of Great Britain, 1926, London. R. L. Bhalla—"*Economic Survey af Birampur*", Lahore, 1922; Several recent economic surveys of Villages by the Punjab Government, Lahore. See also the Reports and evidence given before various Governmental Committees and Commission, such as the Indian Economic Enquiry Committee, 1925; Committee on Cooperation in India, (Maclagan Committee) 1915; Indian Industrial Commission 1916-17; Indian Constitutional Reforms Committee (Montague Chelmsford Committee) 1924; Indian Taxation Enquiry Committee. Royal Commission on Agricalturo in India 1927. Famine Commission Reports. Also Annual Reports of the Indian Public Helth Commissioner. The above list is not exhaustive.

सिर पीछे वार्षिक आय सन् १९२६ में विश्वस्त रीति से ७७० डालर लगाई गई थी, और प्रत्येक मनुष्य की आय जो लाभ से काम कर रहा था, २,०१० डालर ठहरी थी। पिछली संख्या में वह गृहणियाँ, या स्त्री-बच्चे शामिल नहीं हैं जो सब परिवार के सरदार को घर की खेती में सहायता पहुँचाते हैं।* भारतीय सिक्कों में आजकल की प्रचलित दर से ७७० डालर कुल १९२५ के लगभग रुपये हुए और २,०१० डालर लगभग ५०२५) रु० हुए।

भारतवर्ष, महाब्रिटेन और अमेरिका के संयुक्तराज्यों के असली मजूरी के हाल के अंक हमें उपलब्ध नहीं हैं। १९२६ के सितम्बर के अंग्रेजी के The Bombay Labour Gazette नामक पत्र में भारतवर्ष, महाब्रिटेन और अमेरिका के संयुक्तराज्यों के रहन-सहन के खर्च के सापेक्षत सूचक अंक इस प्रकार किये गये हैं।

* Estimate by National Bureau of Economic Research (U. S.), quoted in *Literary Digest*, New York, for March 5, 1927.

रहन-सहन के खर्च के सूचक अंक *

मास और सन्	भारतवर्ष (बंबई)	महाब्रिटेन	अमेरिका के संयुक्त राज्य
जुलाई १९१४	१००	१००	१००
,, १९१५	१०४	१२५	१०५
,, १९१६	१०८	१४८	११८
,, १९१७	११८	१८०	१४२
,, १९१८	१४९	२०३	१७४
,, १९१९	१८६	२०८	१९९
,, १९२०	१९०	२५२	२००
,, १९२१	१७७	२१९	१७४
,, १९२२	१६५	१८४	१७०
,, १९२३	१५३	१६९	१७३
,, १९२४	१५७	१७०	१७३
,, १९२५	१५७	१७३	१७४ (जून)
,, १९२६	१५७	१७०	—

* गेहूँ, चावल, दाल, घी, धोती, साड़ी आदि नित्य के काम की सभी चीज़ों की हफ्तेवार औसत बाजार दर छपा करती है। साल के बावनों सप्ताह के भावका औसत अथवा मास के चारों सप्ताह का औसत निकाल लिया। किसी एक वर्ष को आधार वर्ष मान लिया। मान लो कि सन् १९१४ आधार वर्ष है। सन् १९१४ की जुलाई के एक मजूर-परिवार के खर्च को उस औसत दर से जोड़ लिया। यह आधार वर्ष का अंक ठहरा, इसलिए इसे सैकड़े की नाप या हिसाब का परिमाण, सैकड़ा ठहराया। अब मान लो कि १९१४ की जुलाई में एक मजूर-परिवार ६२१ पैसे खर्च करता है। १९१५ में ६४४, १९१६ में ७०० इत्यादि। अब ६२१

यह अंक देखने में भारत के अनुकूल जान पड़ते हैं। परन्तु इसके साथ यह भी न भूलना चाहिए कि यह अंक जीवन-रक्षा-भर की आवश्यकताओं के सम्बन्ध के हैं।* इससे अधिक प्रायः कुछ भी न समझना चाहिए।

कुछ फुटकर चीजों की खरीदारी के लिए भारत के शहरों में यहाँ के रहनेवालों के लिए एक रुपये के खरीदने की ताकत प्रायः उतनी ही समझी जानी चाहिए जितनी कि महाब्रिटेन की

को सौ मानें तो हिसाब से ६४४ बराबर होगा १०३.७ के, और ७०० बराबर होगा १११.१ के। यह परिवार का कुल ख़र्च नहीं है। इससे रहन-सहन के ख़र्च की सापेक्ष बढ़ती का ही पता लगता है। सूचक अंक यही बताता है कि सन् १९१४ में जैसा रहन-सहन का ख़र्च था उसे सैकड़ा मानें तो इधर के वर्षों में उसकी अपेक्षा ख़र्च कितना बढ़ गया। सूचक अंक केवल इतना ही बताता है। यहाँ महाब्रिटेन और अमेरिका के सूचक अंक जो बड़े दीखते हैं, उनसे केवल यही परिणाम निकलता है कि उन देशों का भाव चढ़ा हुआ है। परन्तु भारत की दरिद्रता औरों की अपेक्षा घटी यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता। —उल्थाकार

* साधारण भारतीय के रहन-सहन का परिमाण इतना घटा हुआ है कि उतने ख़र्च पर किसी देश के मनुष्य जी नहीं सकते। और देशों के लोगों की आय सिर पीछे अधिक है। बचत भी सिर पीछे अधिक है। बाजार दर जो चढ़ा तो कुछ अधिक ख़र्च होने में हर्ज नहीं होता। यहाँ बचत कुछ नहीं के बराबर है। दर चढ़ने पर मजूरी न बढ़े तो मृत्यु के सिवा दूसरा मार्ग नहीं। केवल रहन-सहन के सूचक अंक से ठीक विचार नहीं हो सकता। मजूरी या सिर पीछे आय के भी सूचक अंक निकालकर मुकाबला करने से शायद यह पता लगे कि हम जहाँ थे वहीं हैं। शायद एक दम पीछे हटे हों। आगे न बढ़े होंगे। —उल्थाकार

अवस्था के अनुकूल वहाँ चार शिलिंगों की ताकत है, या अमेरिका में वहाँ की ही अवस्था के अनुकूल एक डालर की ताकत है। भारतवर्ष के गाँवों में तो एक रुपये के खरीदने की ताकत शायद शहरों के मुकाबले और ज्यादा है। इसमें शक नहीं कि गरम देशों में आदमी की जरूरतें बहुत कुछ घटाई जा सकती हैं, परन्तु समशीतोष्ण या अत्यन्त शीत देशों में अनेक मानव-जातियों और उपजातियों के जीवन से तो यह सिद्ध होता है कि मनुष्य सभी अवस्थाओं में प्रायः सभी जगह अपनी जरूरतों को घटा सकता है। परन्तु किसी समुदाय या श्रेणी के अंग्रेज या अमेरिकावासी से साल में दस पौण्ड (१३४)) या ५० डालर (१३८)) मात्र की आय सही न जायगी, गुजारा न होगा।

बम्बई के Times of India 'टाइम्स' नामक पत्र का प्रतिनिधि उस प्रान्त के कृषि-विभाग के डाइरेक्टर डाक्टर हेरोल्ड मान से आज्ञा लेकर उस समय मिला था जब वह अवकाश ग्रहण करनेवाले थे। उक्त पत्र के २२ अक्तूबर १९२७ के अंक में उसकी बातचीत छपी है। उसका एक अंश इस प्रकार है—

"मुझे यह कहने में कोई आगापीछा नहीं है कि किसानों का रहन-सहन बेशक सुधरा है, तथापि मैं यह कहने को कभी तैयार नहीं हूँ कि अधिकाँश किसान उसी सुधरे हुए परिमाण में रहते हैं। असल में मेरी जाँचों से यह सिद्ध हुआ है कि दुर्भिक्ष वाले जिलों में सौ में पचहत्तर आदमी अपने ही रहन-सहन के परिमाण से इतने कम में गुजारा कर रहे हैं कि उनकी स्थिति को हम कभी ठीक नहीं कह सकते। और उन जगहों की बात जब लेते हैं, जो अधिक सुखी समझी जाती हैं, तब वहाँ भी

सैकड़ा पीछे मुश्किल से ६६ आदमी आर्थिक दृष्टि से ठीक दशा में कहने लायक समझे जाते हैं। मैं यह मानता हूँ कि इस मामले पर विस्तार से अपने विचार प्रकट करना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है, क्योंकि मिलान करने लायक स्थिति के आवश्यक अंक उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी बीस बरस की सावधानी की जाँच एवं देखभाल के बाद मेरी स्वाधीन सम्मति तो यही होती है कि इन दो दशकों में बम्बई प्रान्त के गाँवों के जीवन का परिमाण सुधरा है अवश्य, परन्तु जन-समुदाय का उस परिमाण की ओर वास्तविक सम्बन्ध या झुकाव नहीं सुधरा है।"..................

सन् १९२२ में भारत सरकार के उस समय के सार्वजनिक खबरों के विभाग के डाइरेक्टर श्री रशब्रुक विलियम्स ने लिखा है कि "भारत के अधिकाँश मनुष्य इतने दरिद्र और लाचार हैं कि पच्छाँह के लोग उसकी कल्पना तक नहीं कर सकते।"* फिर सन् १९२४ में उन्होंने यों लिखा कि "यद्यपि कुछ निश्चय के साथ यह सिद्ध कर देना बहुत सम्भव मालूम होता है कि कम से कम भारतवर्ष के कुछ भागों में भारतीय आबादी की साधारण जनता अपनी आर्थिक स्थिति में धीरे-धीरे सुधर रही है, तो भी यह याद रखना चाहिए कि भारतवासियों की बहुत भारी संख्या

---

* *India in 1921-22*, p. 191: A Statement prepared for presentation to Parliament in accordanee with the requirements of the 26th Section of the Government of India Act, (5 & 7 Geo. V, Ch. 61) Gcvernment of India Central Publication Branch, Calcutta.

अब भी ऐसी घोर दरिद्रता में कराह रही है, जिसके बराबरी का एक भी उदाहरण, कम गरम होने से अधिक सुखी पच्छाँह के देशों में, नहीं मिल सकता। जो कुछ थोड़ा सुधार भी हो रहा है वह इतनी सुस्ती से हो रहा है कि देखनेवालों को पीड़ा होती है"†

लाहोर के ट्रिब्यून नामक पत्र ने सन् १९२७ के १७ अगस्त के अंक में लिखा है कि पहले के बिहार और उड़ीसा प्रान्त के गवर्नर लार्ड सिनहा ने, पार्लमेण्ट में के भारतवर्ष पर हाल के ही एक विवाद पर लार्ड सभा का ध्यान आकर्षित करते हुए यह भी कहा था कि "यह बात तो अन्त में बाकी ही रहती है कि भारत की साम्पत्तिक उन्नति अत्यन्त सुस्त रही है। फिर भी मैं केवल बंगाल के* लिए कहता हूँ कि मुझे यह नहीं मालूम होता कि वहाँ के लोग तीस या मान लीजिए, पचास बरस पहले जैसे थे, उससे आज किसी तरह पर भी अच्छे हैं। बल्कि, मुझे तो सचमुच ऐसा मालूम होता है कि वह लोग पहले से अधिक दरिद्र हो गये हैं।" गाँधीजी की तो यह धारणा है कि दूसरे प्रान्तों के भारतवासियों की बहुत भारी आबादी की भी ठीक यही दशा है।

भारतवासी बड़े सहनशील और बेचारे लोग हैं, परन्तु यह देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता कि अब उनमें से अधिकांश इस अवस्था को बहुत ही नापसन्द करते हैं और अपने निकास के

---

†*India in 1923-24*, p. 193, Government of India Central Publication Branch, Calcutta.

* सन् १९२१ की गणना के अनुसार बंगाल की आबादी ४ करोड़ ६६ लाख ९५ हजार है अर्थात् महाब्रिटेन की आबादी के लगभग है।

लिए राह ढूँढ रहे हैं। बहुत-सी योजनाएँ बनी और उनकी परीक्षा पूरी तौरपर हो रही है। इन्हीं योजनाओं में से गाँधीजी के द्वारा चलाया हुआ चरखा या खद्दर * का आन्दोलन है जिसे वह और उनके अनुयायी व्यवहार में ला रहे हैं। इसमें अपनी स्वदेशी हाथ की कताई और हाथ की बुनाई है, जिसमें ज्यादा जोर विशेष रूप से हाथ की कताई पर दिया जाता है। ऐसी हाथ की बुनाई जिसमें सूत की कोई कैद नहीं है, चाहे वह चरखे का हो चाहे मिल का, चाहे स्वदेशी हो चाहे विदेशी, पिछले पन्द्रह या अधिक बरसों से बराबर सफलता से होती आई है और कई प्रान्तीय सरकारों से उसे बराबर सहायता भी मिली है।

इस योजना के पक्के अनुयायी भी हैं और कड़ी आलोचना करने वाले विरोधी भी हैं। भारत में और भारत के बाहर भी इस विषय पर इतना विवाद उठ पड़ा है कि उसकी आर्थिक यथार्थता के प्रश्न पर कुछ और भी अधिक विस्तार से विचार करने की जरूरत मालूम पड़ती है। एक मोटे बिहारी व्यापारी ने एक बार जो प्रश्न किया कि "क्या खद्दर से रुपया-आना-पाइयों में भी लाभ होगा ?" उस प्रश्न पर हम भी विचार करेंगे।

इस छोटी सी पोथी में इस प्रश्न पर विचार करने का प्रयत्न किया गया है, और हो सके तो इस प्रश्न का ठीक उत्तर देने की कोशिश की गई है।

प्रायः सभी अमेरिका और यूरोप वालों के लिए और जिन

---

* खद्दर या खादी उसी कपड़े को कहते हैं जो हाथ के कते सूत के ताने-बाने से हाथ के ही करघे पर, अपने देश में बुना गया हो।

लोगों ने पच्छांही शिक्षा पाई है या जो पच्छांही सभ्यता के संपर्क में बहुत ज्यादा रहे हैं, उनमें से बहुतों के निकट तो यह प्रश्न निरर्थक है। आजकल का कल वाला उद्योग और व्यवसाय और व्यापार इतना शक्तिशाली और व्यापक है, कल-बल से उपजी वस्तुयें इतनी सस्ती, इतनी अच्छी और इतने ज़ोर से फैली हुई हैं कि किसी बड़े पैमाने पर उनका मुकाबला करने उठना महा मूर्खता सी लगती है।

उससे किसी लाभ की आशा करना तो दूर की बात है। क्या कालचक्र की सुई की घड़ी की सुई पीछे फेरकर फिर दकियानूसी औजार हाथ में लेना उलटी गंगा बहाना नहीं है ? आश्चर्य की बात है कि देखने में और सब बातों में इतने सच्चे और इतने ईमानदार होकर भी गाँधीजी भारत के मूर्ख किसानों के अन्ध-विश्वास का अनुचित लाभ उठा रहे हैं ! निःसन्देह इस आंदोलन का असफल होना अवश्यम्भावी है। "उत्साह ठीक रास्ते में नहीं है," "अन्धा अन्धे को राह दिखा रहा है," "वह लोग सुधार के विरोधी हैं" "पागल" "सनकी" "मूर्ख" "ओदे" "झक्की" "और" "भ्रम में पड़े हैं" "यह एक अर्थशास्त्रीय भ्रम है जिस-की जाँच नहीं हुई है" "दकियानूसी और अलाभकारी रीति है" व्यर्थ की आशा है" "यह आत्महत्याकारी प्रयत्न है" "यह काम आजकल के समस्त वैज्ञानिक ज्ञान और उन्नति के विपरीत है," इत्यादि इत्यादि। अनेक समीक्षक और सलाहकार इस आंदोलन के जन्मदाता और समर्थकों की शान में ऐसे ऐसे शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करते हैं।

बहुत से लोगों का विश्वास है कि सस्ते से सस्ता बाजार में

कपड़ा खरीदने के सिवा और कुछ करना किसी के लिए और विशेषतः भारतीयों के लिए तो बिल्कुल व्यर्थ बल्कि निश्चय ही भूल है। उनका ख्याल है कि भारत की सम्पत्ति बढ़ाने के लिए चाहे कुछ भी उपाय हों, परन्तु हाथ की कताई-बुनाई तो कदापि ऐसा उपाय नहीं है।

इस छोटी पोथी में यह बात दिखाई गई है कि एक ऐसे आदमी को यह योजना कैसी लगती है, जिसने अमेरिका में सात बरस तक औद्योगिक और श्रमजीवियों की समस्या पर अनुशीलन और अधिकांश रुई के मिलों के सम्बन्ध के व्यावहारिक काम किये हों और फिर ढाई वर्ष तक भारतवर्ष में रह कर विशेष रूप से खद्दर आंदोलन का ही परिशीलन किया हो। पिछले ढाई बरसों के काम में गाँवों में और खद्दर आन्दोलन के मुख्य स्थान पर रहकर प्रत्यक्ष अनुभव भी शामिल रहा है। यह जाँच पहले तो इसी दृष्टि से आरम्भ की गई कि मैं अपने ही विचारों को सुलझा लूँ। इस पोथी में मेरे विचार मौलिक नहीं हैं। हाँ, इस सम्बन्ध में उन विचारों का और सामंजस्य एकत्रीकरण किसी अंश तक नया जरूर है। जो कुछ इस पोथी में आ गया है उसके लिए मैं संसारभर का ऋणी हूँ।

यह पुस्तक पूर्ण तो कदापि नहीं कही जा सकती। परन्तु मैंने मुख्य मुख्य बातों पर विचार करने की कोशिश जरूर की है। मैंने उन पुस्तकों और लेखों का हवाला भी दिया है जिनसे अधिक बातें जानी जा सकती हैं। मुझे जितने सुभीते मिले उनसे पोथी लिखने के समय तक के अंक तो मिलने असम्भव थे, परन्तु मैं ऐसा नहीं समझता कि उनके अभाव से मेरे निष्कर्ष रद्दी होगये हैं

एक बात तो निश्चय है कि भारत के से गरम देश के अनुकूल गांवों के आर्थिक संगठन और ढंग समशीतोष्ण देशों और मुख्यतः नागरिक क्षेत्रों के संगठन और ढंग से नितान्त भिन्न है। जब तक दोनों अवस्थाओं का बहुत काल तक कोई अनुभव न कर लें, तब तक यह यथार्थ समझ में आ जाना प्रायः असम्भव है कि दोनों अवस्थाओं में कितना भारी भेद है।

इस बात को ध्यान में रखकर मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का पढ़ने वाला इस पोथी में दिये हुए प्रमाणों की जबतक पूरी जाँच न कर ले तबतक कृपाकर अपनी राय कायम न करे।

कोटगढ़, शिमला पहाड़।
नवम्बर, १९२७

रि० ब० ग्रेग

खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र

खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र

पहला अध्याय

शिल्पी की निगाह से

इन दिनों ऐसा ख्याल किया जाता है कि जो राष्ट्र जितना ही अधिक तिजारती माल तैयार कर सकता है उतना ही अधिक धनवान् और सुखी होता है। इस तैयारी में यंत्र का बहुत काम लगता है और शारीरिक बल तो अत्यधिक लगता है। जैसे, अभी हाल में ही एक विज्ञापन में हमने देखा है:* कई देशों में सिर पीछे हर काम करनेवाले को इतने अश्व-बल† शारीरिक बल लगाना पड़ता है—

---

* संयुक्त-राज्य के सामयिक पत्र *The Literary Digest* के १९२७ के ७ मई के अंक में पृ० ९१ पर ड्यूक पावर कम्पनी के विज्ञापन में यह अंक दिये हैं।

† भारत में हस्तिबल से बल नापते थे। पाश्चात्य देश के शिल्पी और यंत्रकार अश्वबल से नापते हैं। एक मिनिट में धरती से एक फुट ऊँचा तैंतीस हजार पौंड (आधसेरों) का बोझ उठाने में जितना बल लगता है, उतने को एक अश्वबल कहते हैं। उल्थाकार।

संयुक्त-राज्य	३.६
इंग्लिस्तान	२.४
जर्मनी	१.५
फ्रांस	०.९७
इटली	०.३१
चीन	०.१२

इन राष्ट्रों की सम्पत्ति का हिसाब लगाया जाय तो शायद इसी हिसाब से यह सम्पत्तिवान् भी ठहरेंगे। हां, कुछ राजनीतिक बंधेजों के कारण जर्म्मनी पर अनिष्ट प्रभाव पड़ रहा है, इस लिए जर्म्मनी को अपवाद मानना पड़ेगा।

श्री हेनरी फोर्ड लिखते हैं* "विकसित बल ही माली (भौतिक) सभ्यता का स्रोत है। जिसके पास यह विकसित बल मौजूद है, उसे सहज ही उसके लिए काम भी मिल जायगा। बल को काम में लाने का एक ढंग है कल, और जैसे हम हवा-गाड़ी को बल लगाने का एक साधन नहीं समझते, बल्कि उसे बल ही समझते हैं, उसी तरह हम यह भी भूल करते हैं कि कल को बल समझते हैं। कल तो बल को ज्यादा काम में लगाने के लिए एक

---

* *To-day and To-morrow*, Heineman, London, 1926, p. 167 श्रीफोर्ड की लिखी इस पुस्तक से इसलिए अवतरण लिया गया कि वह स्वतंत्र विचारक हैं, अपने ही उद्योग से इतने भारी कारबारी मोटरकार बनानेवाले और समृद्ध बन गये हैं। इनकी व्यापारी नीति और संचालन से इन्हें बहुत से देशों में बड़ी सफलता मिली है। इसलिए संभवतः साम्पत्तिक दृष्टि से इनकी राय और नीति बहुत-कुछ ठीक और ऊँची समझी जायगी। इनका कुछ प्रभाव अवश्य पड़ना चाहिए।

उपाय है। हम लोग कहते हैं कि अब "कल-युग" या "यंत्र-युग" आ गया है, पर असल में आ गया है "बल-युग।" इस बल-युग का महत्व इसी में है कि हम बल के पीछे श्रम की कल लगा-कर उसे ठीक-ठीक काम में ला सकें, जिसमें माल ज्यादा से ज्यादा और सस्ते से सस्ता तैयार हो और इस संसार की अच्छी-अच्छी चीजें हम सब को ज्यादा से ज्यादा मिल सकें। सब को समान अवसर मिलने की राह, स्वतंत्रता की राह, कोरी बातों को छोड़ कर वास्तविक घटनाओं की राह,—सभी राहें बल के द्वार से निकलती हैं। कल तो बीच का एक निमित्त-मात्र है।"

इस विचार पर पाठकों को ध्यान देना चाहिए कि बल को ठीक-ठीक काम में लाना ही मुख्य बात है और महत्व की बात है। कल तो एक बीच की बात है। आगे चल कर फिर हम इस पर विचार करेंगे।

सन् १९१७ में महाब्रितानिया में बिजली के बल-प्रसार पर मध्यम रिपोर्ट में ब्रिटिश-रिकंस्ट्रक्शन कमिटी कुछ ऐसी ही बात यों कहती है—

"यह तो साफ है कि देश की व्यापारी सम्पत्ति में उन्नति—या यों कहिए कि हर आदमी के माल खरीदने का औसत बल, सिर पीछे माल की अधिकाधिक तय्यारी पर निर्भर है।...... समृद्धि बढ़ाने का एकमात्र उपाय यही है, हर काम करनेवाले आदमी के सिर पीछे माल की कुल तय्यारी बढ़ जाय।...... कमती मजदूरी का सब से अच्छा इलाज बढ़ता हुआ चालक बल है। या माल तैयार करनेवाले मालिक की निगाह से यों समझना चाहिए कि मजूरी के बढ़ते हुए खर्च की गुञ्जाइश इसीमें

है, कि चालक वल को खूब वढ़ा-चढ़ा कर काम में लाया जाय। इस तरह मजूरों की और मालिकों की गुत्थी एक ही तरह पर सुलभ सकती है—कि वल को भरसक सब से अधिक काम में लाया जाय। इसीलिए ईंधन में कम से कम खर्च लगा कर अधिक से अधिक वल पैदा हो और वह वल सस्ता और यथेष्ट मिले, इस वात की जरूरत वढ़ती ही जाती है।"*

इन अवतरणों में जो कहा गया है वह सच मान लिया जाय तो यह अर्थशास्त्र की दृष्टि से पक्की और पोढ़ी वात होगी कि भारतवर्ष में जितना बल काम में लाया जा रहा है उससे ज्यादा काम में लाने के लिए तुरन्त ही कलों की स्थापना करने पर जोर दिया जाय।

परन्तु पहले-पहल हमें होशियार कारवारियों की तरह भाँति भाँति की कलों की और जितना वल हम काम में ला सकते हैं उसकी, अच्छी तरह जाँच करनी चाहिए।† एक तरह की कल दूसरी से ज्यादा कामकाजी हो सकती है या आगे चल कर कम खर्च वाली ठहर सकती है, इसलिए कल के स्थापित करने का, उसे चलाते रहने का और वल के खर्च का हिसाब लगाना चाहिए, मजूरों को कितना कुशल होना होगा, किस तरह का और कितना माल हम

---

* Cf James Fairgrieve—*Geography and World Power*, University of London Press, 1925.

† मिलान करो—W. N. Polokov—*Mastering Power Production*, Mc Graw-Hill & Co., New York City, 1919, p. 34.

निकालना चाहेंगे, माल बाजार में खप सकेगा या नहीं, और इस तरह खर्च निकल आवेगा या नहीं, इन सब बातों पर विचार कर लेना होगा। जैसे, यदि मालिक का कारखाना किसी बड़े झरने के पास है, तो भाफ का अंजन बिठाना उसके लिए शायद भारी मूर्खता होगी, और कहीं कारखाना कोयले की खान के पास हुआ तो भाफ के अंजन से अच्छा बल कहाँ मिलेगा? या, अगर बाजार में तीस हजार अश्वबल से निकला माल ही नफ़े के साथ खप सके तो पचास हजार अश्वबल का अंजन लगाना साफ भूल होगी।

श्री फ़ोर्ड के इस विचार के अनुसार कि कल के किसी विशेष प्रकार की अपेक्षा बल को ठीक ठीक ढंग पर काम में लाना अधिक महत्व की बात है, हम यहाँ अब संक्षेप से इस बात की जाँच करते हैं कि शारीरक बल की प्राथमिक या मूल बातें क्या हैं और उसे कैसे ठीक-ठीक काम में ला सकते हैं। और फिर खद्दर के प्रस्ताव के खरे होने या न होने की भी उसी ढंग पर जाँच करें। पहले हम संक्षेप से शिल्पीय पक्ष की दलील देंगे, फिर अधिक विस्तार के साथ उस पर विचार करेंगे।

सारी शारीरिक शक्ति अन्ततः सूर्य से ही मिलती है। और पत्थर का कोयला, मिट्टी के तेल असल में वह खजाने हैं जो प्राचीन काल में सूर्य्य की शक्ति की धारा से इकट्ठे हुए हैं। वनस्पति ने पहले इसे बटोरा और फिर इन रूपों में बदल दिया है। जल का बल कहाँ से आता है? सूर्य्य की किरणों की कृपा से महासागरों से भाफ बन कर जल उड़ जाता है और फिर धरती पर बादल और वर्षा के रूप में चला आता है। यह भी वस्तुतः सूर्य

का बल है जो हम पनचक्की आदि में लगाते और बिजली बनाने में काम में लाते हैं। घोड़े और ढोर और मनुष्य-रूपी कल किस बल से चलती है? भोजन के बल से। और भोजन आता है पौधों से और पौधों का जीवन है सूर्य की किरणों के भरोसे। प्राचीन काल से अब तक सम्पत्ति पैदा करने का जितना काम मनुष्य करता आया है और आज भी जो भारी भारी कारखाने चल रहे हैं, सब के बल का मूल-स्रोत सूर्य्य की ही अनन्त शक्ति की धारा है। ऋग्वेद में भगवान् सविता की ठीक ही स्तुतियाँ की गई हैं। उन पर कुछ लिखना बाहुल्य है। एक मंत्र उदाहरण की भांति लीजिए—*

सविता यंत्रैः पृथिवीमरम्णात्
अस्कम्भने सविता द्यामदंहत्।
अश्वमिवाधुक्षत् धुनिमन्तरिक्षम्
अतूर्त्ते बद्धम् सविता समुद्रम् ॥ १ ॥

ऋग्वेद। मंडल १०। सूक्त १४९।

चाहे शिल्पी की निगाह से देखिए, चाहे अर्थशास्त्र की दृष्टि से देखिए, जितनी सौर शक्ति को यथार्थ-रीति से हम परिणत करके अब तक लाते रहे हैं उसको जिस योजना में उससे अधिक परिणत करके काम में ला सकें वह अवश्य पक्की होगी।

---

* ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त १४९, मंत्र १। इसका भावार्थ यह है—

सविता जो सबका उत्पन्न करने वाला, सबके भीतर आत्मा हो कर प्रेरणा करनेवाला अन्तरिक्ष का देवता है, यन्त्रों के द्वारा अथवा वृष्टि-वायु

साधारणतया चरखे को हम कल की दृष्टि से नहीं देखते, परन्तु वास्तव में वह कल ही है। स्त्री, पुरुष या बच्चों में जो कल का बल मौजूद है, उसे कामकाजी माल के तैयार करने में लगानेवाली कल चरखा है। करघा भी यही काम करता है। मनुष्य जो अन्न खाता है, उसीसे उसे यह यन्त्र-शक्ति मिलती है। मनुष्य-रूपी अंजन को ताकत देने के लिए कोयला पानी अन्न है और अन्न के पास सूर्य्य से ताकत आती है। इस तरह असल में सूर्य्य की शक्ति ही अनेक रूप बदल कर कल चलाती है।

भारतवर्ष में आजकल बेकारों की संख्या बढ़ी हुई है। यह इतने बेकार मनुष्य नहीं हैं, बल्कि वह अंजन हैं जिनमें थोड़ा-बहुत कोयला-पानी तो दिया जाता है, पर उन्हें जोता नहीं जाता, कि कुछ काम हो। उनसे माल नहीं तैयार कराया जाता। गांधी जी उन्हें चरखों में लगा कर काम में लाना चाहते हैं। अर्थात् इस समय सूर्य की अपार शक्ति, जो बेकार जा रही है, उसे काम में लाना चाहते हैं।

भारत में हम कल-बल के काम को बढ़ाना चाहें तो इससे सहज, सस्ता और जल्दी का उपाय हो नहीं सकता। "अंजन" तो सभी तैयार हैं, क्योंकि अन्न-ईंधन की शक्ति को चालक गति

अग्नि आदि स्ववश रखने वाले साधनों के द्वारा, बसी हुई धरती को, सुख सम्पन्न रखता है। उसी ने देव-लोकों को रुकने, गिरने, लटकने आदि से बचा कर अपनी अपनी अवस्था में दृढ़ कर रखा है। वही वायु-पाश में बाँध कर समुद्र को बिना कष्ट दिये अन्तरिक्ष में मेघ-रूप में घोड़े की तरह दौड़ाता है और उसके स्वेदन की तरह वर्षा कराता है।

में वदलने के लिए मनुष्य उतना ही सक्षम है जितना कि भाफ का अंजन है। और सब तरह की जरूरतें पूरी करने के लिए कातने और वुनने की हथकलें काफ़ी संख्या में प्रायः तैयार ही हैं। कुछ ज्यादा की जरूरत भी पड़े तो देश में जो कारीगर मौजूद हैं वह इन कलों को जल्दी और सस्ते में वना भी सकते हैं, क्योंकि उन्हें इस काम का अभ्यास है। और इस सम्बन्ध में उन्हें सीखना वाक़ी नहीं है। चरखे और करघे से जितनी जल्दी जितना माल निकल सकता है, वह भारत के वाजार की माँग और भारत के माल तैयार करने वालों की देन की ताकत के विलकुल अनुकूल है। दूसरे तरह की कलें इतनी अनुकूल हो नहीं सकतीं। इन कलों की खरीद के लिए विदेशी पूंजी भी नहीं चाहिए। इसलिए व्याज चुकाने के भारी खरचे का झगड़ा नहीं हैं, और न विदेशों में वैठे महाजनों को यहाँ के कारवार पर अंकुश रखने की कठिनाइयाँ हैं। इस तरह के कारखाने के चलाने का खरचा भी अत्यन्त थोड़ा है और जो काम करने वाले मिल सकते हैं, उनसे ही यह कारखाना चलाया जा सकता है, ज्यादा सिखाने की जरूरत न पड़ेगी। मजूरों को वहुत थोड़ी शिक्षा देने की जरूरत पड़ेगी। जो देनी भी होगी वह और कलों के मुकावले ज्यादा सरल होगी। मनुष्य-रूपी अंजन को चरखे में जोतने में जो अन्नरूपी कोयला-पानी खर्च करना पड़ेगा, वह तो वही होगा जो अवतक विना चरखा चलाये भी होता आया है। और कच्चा माल जो लगेगा प्रायः हर प्रान्त में मिलता है और वहुत कम ढुलाई के खर्च में हर काम करने वाले को मिल सकता है। वाजार की तो वात क्या है। वह तो हर जगह है।

इन सब बातों पर यह जवाब मिल सकता है—बहुत सीधी सादी और छोटी-सी बढ़िया सलाह है ! परन्तु—

इन छोटे छोटे मानव-अंजनों के द्वारा जो सौर शक्ति काम में परिणत होती है, आज कल के बलशाली कारखानों के काम के मुकाबले में इतनी नन्ही-सी है और हाथ के बल से निकला हुआ काम आज-कल की कलों के काम के मुकाबले इतना सुस्त और निकम्मा है, कि यह सलाह बिलकुल वेकार ठहरती है। सो अब आइए, इसी पर विचार करें।

दूसरा अध्याय

विस्तार से शिल्पीय विचार

इस सौर शक्ति का वास्तविक फल क्या है ?

हम इसकी जांच यहाँ विस्तार से करेंगे। इसलिए नहीं कि हम बहस करें कि इसका पूरा उपयोग हो सकता है, बल्कि इस लिए कि आज--कल के उद्योग-धंधों में बल के विषय में हम लोगों ने जो कल्पना-चित्र खींच रखे हैं, उसमें यदि भूल हो तो उसका सुधार कर लिया जाय।

एन्सैक्लोपीडिया ब्रिटानिका नामक विश्वकोश के ग्यारहवें संस्करण में "सन" (सूर्य्य) पर जो लेख लिखा है कि धरती से सूर्य्य के पिंड तक की दूरी के मध्यमान पर, धरती पर प्रतिवर्ग शतांशमीटर प्रति मिनिट जो सौरशक्ति सूर्य्य से आती है, वह शक्ति की इकाइयों में २.१ कलारी होती है, वा प्रति वर्गगज मीटर १.४७ सहस्रवाट होती है, अथवा प्रतिवर्ग १.७ अश्वबल की दर से आती है।

अपनी पुस्तक *Geography and World Power* *

---

* p. 355. London University Press, London. 1925. इस पुस्तक में बड़ी मनोहरता से इस बात का महत्व दिखाया गया है कि अत्यन्त प्राचीन काल से सभी राष्ट्रों के इतिहास में शारीरिक बल का अधिकाधिक प्रयोग होता चला आया है'

"भूगोल और संसार-बल में" जेम्स फेअरग्रीव का सहारा मरुस्थल के लिए यह कहना है कि इस मरुस्थल में उतने ही क्षेत्रफल में जितने में पूरा लंडन अपने चारों ओर की छोटी बस्तियों को लेकर बसा है, इतनी सौरशक्ति सालभर में सूर्य्य से आती है, जितनी कि पैदा करने के लिए ब्रिटेन के साल भर की कोयले की पूरी आमद को पूरे तौर पर जला डालना आवश्यक होगा।

दूसरा लेखक यों कहता है*—देखना चाहिए कि सूर्य्य कितनी शक्ति खर्च करता है। मिस्सिस्सिप्पी महानद के दोनों ओर के मैदान का क्षेत्रफल ९ लाख ८२ हजार वर्गमील है। और प्रति वर्गमील लगभग ४० इञ्च गहरा पानी साल में बरसता है। अब एक वर्गमील विस्तार में और चालीस इञ्च गहराई में जितना पानी अंटता है उतने को खौला कर उड़ा देने में हिसाब से १ लाख ८२ हज़ार टन (वा लगभग ५० लाख मन) कोयला जला डालना पड़ेगा। यह एक वर्गमील की बात हुई। अब, ९ लाख ८२ हजार वर्गमील के लिए इसी संख्या से गुणा करना होगा। यह होगा (लगभग पौने उनचास नील मन वा) १ खरब, ७८ अरब, ७२ करोड़ और ४० लाख टन ! मिस्सिस्सिप्पी के दोनों किनारों के मैदान में जितना पानी बरसता है उतना खौलाकर उड़ा देने में इतने टन कोयला लगेगा ! परन्तु इतना कोयला आवेगा कहां से ? साल भर में संसार भर

---

* *The Children's Treasure House*, Vol. VIII, p. 65. Edited by Arthur Mee. Educational Book Co., Ld., London.

में कुल १ अरब १० करोड़ टन से कुछ ही ऊपर कोयला निक-लता है। मान लो कि हमें मिस्सिस्सिप्पी के मैदान में सालभर पानी बरसाने का ठेका लेना हो तो दुनिया भर में साल भर में जितना कोयला निकलता है उसके डेढ़ सौ गुने कोयले की जरूरत होगी !"

भारतवर्ष भर के क्षेत्र-फल पर धूप के द्वारा साल भर में जितनी सौरशक्ति आती है उसका मोटा हिसाब अश्वबल में करें तो ४९ संख ९६ पद्म अश्वबल होगा। इतनी अश्वबल शक्ति यदि हम कोयले से लेना चाहें तो, सन् १९२० में* दुनिया भर में जितना कोयला निकाला गया उसके २९ हजार गुने अधिक कोयले की जरूरत होगी !

भगवान् भास्कर से निरन्तर कितनी सौर शक्ति धरती पर चली आ रही है, कुछ ठिकाना है ! सामान्यतः जितनी की हम कल्पना करते हैं उससे तो इतनी ज्यादा है कि सोचकर बुद्धि चकरा जाती है। और जितना तेल और कोयला हम धरती से निकालते रहते हैं, उसकी अपेक्षा तो इतनी ज्यादा है कि मुकाबला करना व्यर्थ है। भारतवर्ष की वास्तविक समृद्धि, सच्ची दौलत का असली खजाना यही है। हम तो उसका अत्यन्त अल्प अंश काम

---

* यह अंक *Encyclopaedia Brittannica* एंसैक्लोपीडिया ब्रिटानिका नामक विश्वकोश के बारहवें संस्करण के "कोल" नामक लेख के और W. N. Polokov की लिखी पुस्तक *Mastering Power Production*, (Macgraw–Hill, New York City, 1921.) के आधार पर यहां दिये गये हैं।

में लाते और ला सकते हैं, परन्तु उसे काम में लाने को जो उपाय हम कर सकते हैं उनकी उपेक्षा करना तो स्पष्ट नासमझी और बिलकुल अवैज्ञानिक बात है।

"यद्यपि मिनिट दो मिनिट तक मनुष्य एक या अधिक अश्व-बल ताकत अपने शरीर से लगा सकता है,......तथापि सामान्य-रीति से एक अश्वबल के दशमांश से ले कर षष्ठांश तक अपने काम में वह जरूर लगाता है।"* अभी तो हम इस प्रश्न को छोड़ देंगे कि उस बल का कौन-सा अंश चरखा चलाने में लगता होगा। यह याद रखना चाहिए कि अश्वबल का अर्थ सच-मुच किसी घोड़े की ताकत नहीं है। वह तो समय, बोझ और दूरी के हिसाब से काम के दर की इकाई-मात्र है। †

सन् १९२१ की मर्दुम-शुमारी से पता लगता है कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, काश्मीर, ब्रह्म-देश, अन्दमान और निकोबार के टापुओं को छोड़ कर, सारे ब्रिटिश भारत और देशी-राज्यों कुल १० करोड़ ४९ लाख ४३ हजार ७१२ स्त्री-पुरुष असल में ऐसे काम करनेवाले थे, जो पूरी तौर से चराई और खेती के काम में लगे हैं। पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और काश्मीर की आबादी का भी उसी के अनुसार अंश जो खेती में लगा रहता है,

---

* W. A. Henry and F. B. Morrison:—*Feeds and Feeding*, 18th edn. 1923. Para. 444. Madison, Wisconsin, U. S. A. पालतू जानवरों की शक्ति, वृद्धीकरण और पोषण के विषय में अमेरिका में यह ग्रंथ प्रमाण माना जाता है।

† इसी पुस्तक में पहले अध्याय के आरंभिक प्रस्तर पर दी हुई अश्वबल पर जो पाद-टिप्पणी है, उसे पाठक फिर पढ़ लें। उल्थाकार।

लगभग २० लाख के और होगा, जो उसी संख्या में जोड़ा जाय तो ब्रह्मदेश* छोड़ कर सारे भारतीय महाद्वीप में काम करनेवाले खेतिहर लगभग पौने ग्यारह करोड़ के होंगे।

हम आदमी पीछे काम की अटकल ऊपर दी हुई दोनों दरों में से कम ही दर पर करें,—अर्थात् मनुष्य पीछे दशमांश ही अश्वबल कूतें,—तो खेती और चराई के काम में एक करोड़ सात लाख अश्वबल लग सकता है। जांच या परीक्षा-सम्बन्धी कोई अंक तो मिल नहीं सकते, परन्तु इस मामले पर विचार करने के लिए एक ऐसी अटकल हम कर सकते हैं जिसमें भरसक किसी पक्ष की ओर झुकाव न हो। हमारी समझ में चरखे के चलाने में मनुष्य के बल का केवल शतांश लगता है। इस अंदाजे से केवल खेतिहरों के क्षेत्र में चरखे से सूत कातने में हम एक लाख सात हजार अश्वबल लगा सकते हैं।

इसके सिवा यह भी याद रहे कि साल में कम से कम तीन महीने तक तो सारे दिन और बाकी नव महीने तक दिन के कुछ भाग में यह मानवबल वस्तुतः काम में लग सकता है। ब्रिटिश और भारतीय दोनों पक्ष के सभी विश्वास-योग्य और सक्षम विचारकों की राय में यह तो मानी हुई बात है कि भारत के हर प्रान्त में और हर जिले में साल में कम से कम तीन महीने तक तो जरूर ही किसान बेकार बैठा रहता है। बहुत से प्रामाणिकों का तो अन्दाजा चार मास का है। कुछ छः मास भी कहते हैं।

---

* ब्रह्मदेश जानबूझ कर छोड़ दिया गया, क्योंकि लेखक को ठीक नहीं मालूम कि वहां कहां तक किसानों में बेकारी या बा-कारी है। इस तरह छोड़ देने से अंक-परम्परा बनी रहती है।

यह भिन्न-भिन्न प्रामाणिक लोग इस बात पर भी सहमत हैं कि उन दिनों में भी जब किसान काम करता रहता है, उसके बेकारी के घण्टे थोड़े नहीं हैं। यह भयानक बेकारी, जो इतने विस्तार से फैली हुई है, और जो बराबर नियम से वर्ष में हुआ करती है, भारतीय आर्थिक स्थिति में एक अत्यन्त महत्व का कारण है। पाश्चात्य स्थितियों से यह इतनी भिन्न है कि हमने काफी विस्तार से प्रमाणों के अवतरण देने में ही बुद्धिमत्ता समझी। यह अवतरण परिशिष्ट "ख" में दिये गये हैं।

इससे यह बिलकुल साफ़ हो जाता है कि चरखा चलाने के लिए जितना मानव-बल मिल सकता है वह अत्यन्त भारी है।

खेत में काम न करने वाले आश्रितों, लड़कों और स्त्रियों के काम ऊपर दी हुई अटकल में नहीं जोड़े गये हैं। इनका हिसाब करें तो पहले जो उपलभ्य शक्ति के अंक दिये गये हैं वह शायद तिगुने हो जायँगे।

नीचे दिये हुए अंकों से इस बात की अटकल लगाई जा सकती है कि बल के और स्रोतों की अपेक्षा यह कितना भारी और अधिक है। सन् १९२४ के इण्डियन-इअर-बुक में पृ० २८५ पर यह लिखा है कि भारत-सरकार के बिजली के सलाहकार श्री जे० डब्ल्यू० मीअर्स, एम. आई. सी. ई. ने सन् १९१९ सितम्बर में भारतीय उद्योग-कमीशन के सामने जो आरम्भिक रिपोर्ट पेश की थी उसमें उन्होंने कहा है कि सारे भारत में जितने औद्योगिक कारखाने थे, सब मिलाकर १० लाख अश्व-बल से कुछ ही अधिक से चल रहे थे। उसी इअर-बुक में (पृ० २८५-६) यह भी लिखा है कि उस साल बम्बई के सब

पुतली घर और कारखाने मिला कर एक लाख से कुछ ऊपर अश्वबल काम में ला रहे थे और यह भी लिखा है कि जब ताता हैड्रो-एलेक्ट्रिक पावर सप्लाइ कम्पनी का पूरा विकास हो जायगा तो एक लाख अश्वबल के लगभग उससे शक्ति मिल सकेगी। उसमें यह भी लिखा है कि उस समय बम्बई में कुल ४४ मिलें थीं और उन सब में कुल मिला कर ५२ हजार अश्वबल की शक्ति काम में आ रही थी।

अब पिछली मानी हुई बातों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि खेती वाले क्षेत्रों में साल में तीन मास ही चरखा कातने के लिए जितना मनुष्य-बल मिल सकता है, वह उतनी कुल यांत्रिक उत्पादिका शक्ति के बराबर है जो १९१९ ई० में बम्बई में खर्च होती थी या जितनी ताता हैड्रो-एलेक्ट्रिक-प्लांट पूर्ण विकास पर दे सकेगा, या कि बम्बई की कपड़े बनाने वाली मिलें सब मिला कर उस साल जितना बल काम में लाती थीं, उसके लगभग दूने के बराबर।

भारत की भारी आबादी और बड़ा क्षेत्र-फल तथा आजकल के औद्योगिक बल केन्द्रों की समाई देख कर १ लाख अश्वबल तो थोड़ा ही जँचता है। तो भी यह बल-परिमाण उससे प्रायः अत्यधिक है ही, जो औद्योगिक परिवर्त्तन के पहले सारे यूरोप को कपड़े पहनाता था। और शायद मुहम्मदी विजयों के पहले कुल बल जो कपड़े की तैयारियों में लगता था, उससे भी अत्यधिक है, क्योंकि मुसल्मान की विजय के बाद से आबादी ब[illegible]।

इस तरह हमारी समझ में आता है कि भारत में सौर बल की बहुतायत है और जब मनुष्यों और चरखों के द्वारा उसका

विकास किया जाता है तब उससे एक अच्छी तादाद में मौजूदा उत्पादन-शक्ति हमें मिलती है। ये अंक केवल मोटे तौर पर दिये गये हैं; परन्तु वे असली हालत पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार जो शक्ति हमें सुलभ है वह स्वयं उतनी मार्के की नहीं है, जितना कि उसका बटवारा और उपयोग की विधि तथा हेतु है।

परन्तु एक शिल्पी यह भी मालूम करना चाहता है कि उसको बताई शक्ति की योजना कितनी अच्छी तरह काम दे सकती है।

अब सौर शक्ति के इस रूपान्तर की पहली अवस्था को लीजिए। हमें यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं मिलता कि आधुनिक खाद्य-सामग्री उत्पन्न करनेवाली वनस्पति की प्रकाश एवं रंग-ग्राहक क्षमता, उस वनस्पति से कम कार्य-क्षम है जो कोयले और मिट्टी के तेल के पदार्थ पैदा करती है।

परिणति की दूसरी अवस्था के लिए हम एक अवतरण देते हैं। Feeds & Feeding नाम के ग्रंथ का, जिसे मारिसन और हेनरी ने लिखा है, ऊपर हवाला दिया जा चुका है। उसमें पृष्ठ १०५ पर "कल की हैसियत में प्राणी" इस शीर्षक के नीचे थोड़ा सा यह अंश है—

"अपनी पूरी योग्यता से जब घोड़ा दिन-भर काम करता रहता है, तब वह वास्तविक बाहरी उपयोगी काम में,—जैसे बोझ हटाने में,—अपने भोजन की सम्पूर्ण शक्ति का आठ-प्रतिशत या अधिक अंश बाहरी बल में परिणत करता है, साथ ही हम उस बल को इसमें नहीं जोड़ते हैं जो वह इन क्रियाओं में अपने शरीर

को हिला कर खर्च करता रहता है। यदि उसके शरीर हिलाने के बल–व्यय को भी जोड़ लें तो वह सौ में पन्द्रह अंश या अधिक बल अपने भोजन में से लाता है।

प्राणियों को कल की तरह समझ कर उनका मुकाबला खींचने वाली कलों से किया गया। नेब्रास्का विश्वविद्यालय में तरह तरह के ६५ प्रकार की खींचने वाली मशीनों की जांच की गई। खींचने के काम में ईंधन मिट्टी के तेल का ही लगता था। ईंधन की पूरी-शक्ति को सौ मान लें तो केवल आठ अंश का औसत खींचने वाली मशीनें काम में लाती पाई गई। इसमें खुद मशीनों को खींचने में जो बल लगता था उसका हिसाब नहीं रखा गया। जहां मशीनों को खुद खिंच जाने का काम न था, जहां बल-फीते द्वारा लगता था, वहां ईंधन की शक्ति का १३·४ प्रतिशत काम में परिणत होता था। शरीर के डुलाने का हिसाब शामिल करके घोड़े के १५ प्रतिशत काम का इससे मुकाबला हो सकता है। इस प्रकार केवल कल की दृष्टि से आजकल के अच्छे से अच्छे चालक यंत्रों के मुकाबले प्राणी-यंत्र कुछ बुरा नहीं ठहरता।

अब मनुष्य प्राणी की बात लीजिए। अपनी मानव-शरीर-विज्ञान की पुस्तक Principles of Physiology * में अध्यापक जे. जी. मैक्केंड्रिक कहते हैं कि मनुष्य अपनी अन्न-शक्ति का चतुर्थांश [२५ प्रतिशत] यांत्रिक गति में परिणत कर सकता है, शेष तीन चौथाई गरमी पैदा करने, पचाने और शरीर के पोषण के काम में लगता है। साथ ही, उत्तम से उत्तम प्रतिक्रियाशील

* Home University Library, Williams and Norgate, London.

भाफ का अंजन कोयले की शक्ति का लगभग साढ़े बारह प्रति सैकड़ा भाग सहज में ही कामकाजी बल में परिणत कर सकता है।

प्रोफेसर फ्रेडरिक साडी आक्सफर्ड विद्यापीठ में अध्यापक हैं। रायल सोसैटी के सदस्य हैं। सन् १९२३ ई० में रसायन विज्ञान के लिए उन्हें नोबेल पारितोषिक मिला था। वह अपनी हाल की ही छपी पुस्तक में कहते हैं:—

"काम करने के एक यंत्र की हैसियत से मनुष्य अत्यन्त उपयागी है, यदि हम उसके भोजन की उस शक्ति की जांच करें जो रूपान्तरित होकर काम की शकल में बदल जाती है। यह कभी कभी सौ भाग में तीस भाग से भी अधिक हो जाता है। और उत्तम से उत्तम भाफ का अंजन इस उपयोगिता को शायद ही कभी पहुँच सके।*"

इस प्रकार अन्न-मनुष्य का संयोग शारीरिक-बल की दृष्टि से उतना ही उपयोगी जँचता है जितना कि कोयला-पानी-अंजन का संयोग यांत्रिक बल के लिए जान पड़ता है।

सौर-शक्ति की पूरी मात्रा पर, जो खर्च हो जाती है, यदि विचार करें तो कोयला-पानी-अंजन-कपड़ा मिल की अपेक्षा अन्न-मनुष्य-चरखा-करघा वस्तुतः अधिक कामकाजी और उपयोगी ठहरता है; क्योंकि चरखा या मिल की पुतली चलाने के पहले इनके सम्बन्ध के यंत्र बनने ही चाहिएँ। जितनी सौर शक्ति धातु की बनी यंत्रबल-संचालित पुतलीघर की कलों के तय्यार करने में कोयले

---

* F. Soddy:—*Wealh, Virtual Wealth and Debt.*—Allen and Unwin, London, 1926, pp-51-52.

से ली जाती है और आदि से अन्त तक खर्च होती है और फिर जिन बैलटों और अंजनों से वह चलती है उनके बनाने में जो खर्च होती है, इतनी अधिक है कि काठ के चरखे की तय्यारी में खर्च होनेवाली सौरशक्ति की तो उसके सामने कोई गिनती नहीं है। यह भयानक भेद और भी स्पष्ट हो जाता है, जब कि हम ओटनी, धुनकी और करघा के बनने में लगी सौर शक्ति की अटकल उससे करते हैं जो मिल के अंजनों से चलनेवाले बेलरों, गिन्नरों, ओपनरों, ब्रेकरों, कार्डरों, स्लबरों, रोवरों और ताना तनने और बुनने की कलों के बनाने में खर्च होती है, जब हम एक-एक पुतली या एक-एक टुकड़ा मशीनों का अलग-अलग लेकर उतना ही काम निकालनेवाले ओटनी, चरखे आदि से अलग ही अलग मुकाबला करते हैं, या जितनी मात्रा सूत की या कपड़े की हरएक के योग से तैयार होती है, उसका हिसाब करते हैं, तो बल–कलों के मुकाबले इन हथ-कलों में अधिक सुभीता और सौर-शक्ति का उनके मुकाबले बहुत कम ही खर्च देख पड़ता है। इसके सिवा, इस प्रभेद में भी इस बात का हिसाब नहीं किया गया कि कोयले पर धरती के अत्यधिक दबाव में कितनी भारी मात्रा में दानवी शक्ति का प्रयोग हो चुका है, और भांति-भांति के भूगर्भ का चाप करोड़ों बरस तक पड़ता रहा है।

पच्छाहीं विचारक की यह प्रवृत्ति हो सकती है कि उपयोगिता के इस मुकाबले की रीति को मूर्खता कह कर उड़ा दे और कहे कि मनुष्य के श्रम का मुकाबला मनुष्य के श्रम से ही, अर्थात् मिल-मजूरों से ही कर के इस विषय को समझना चाहिए। परन्तु आजकल जो शिल्प-विद्या में कुशल माने जाते हैं, वह अब

बड़े गांभीर्य्य से इस बात पर विचार कर रहे हैं कि किन-किन कारणों से अपव्यय होता है और किन उपायों से उपयोगिता और काम की अधिक कीमत बढ़ सकती है। प्राची को तो युगों की बात सोचने की बान पड़ी है और पूरब के निवासियों को तथा उन्हें जो किसी पूर्ण सभ्यता के स्थायित्व के कारणों पर विचार किया करते हैं, इस प्रकार की बातें संभवतः झूठी या व्यर्थ न जँचेंगी। पच्छाहियों का दावा है कि हथकलों की अपेक्षा बल-कलों की उपयोगिता की कीमत ज्यादा है। यह दावा तभी तक ठहर सकता है जब तक इस बात पर विचार नहीं किया जाता कि सौर शक्ति का कितना अधिक भाग रासायनिक और यांत्रिक शक्ति में बदल देने में लग जाता है।

शिल्पी की दृष्टि से, जितना माल बाजार में खप जाने की उचित आशा की जा सकती है, और आगे खपत में जितनी बढ़ती की संभावना हो, उतने ही माल की तैयारी में जितने कल-बल की जरूरत है, उससे अधिक कल-बल का बन्दोबस्त करना अकिल की बात नहीं है। अत्यधिक कल रखना व्यर्थ का बन्दोबस्त है, और उससे जरूरत से कहीं ज्यादा खरचा और नुकसान है।

चौथे अध्याय में जो बहस दी गई है, उससे तो यह बात साफ समझ में आ जाती है कि भारत का कपड़े का बाजार इधर जल्दी और बहुत बढ़नेवाला नहीं है। और शायद भारत के मिल-मालिकों का यह आशा करना भूल होगी कि हम और भी अनेक विदेशी बाजारों में अपना माल लेकर घुस सकेंगे और दूसरे राष्ट्रों के मिलों से होड़ कर सकेंगे। यदि हमारी यह

कल्पना ठीक है, तो भारतीय पुतलीघरों के विस्तार के लिए कोई कारण नहीं दीखता । परन्तु जहां तक कि खद्दर वर्त्तमान सौर-शक्ति को मिलों की अपेक्षा अधिक सस्ती-रीति से काम में ला सकता है, वहां तक तो अवश्य चरखों और करघों के विस्तार के लिए मौका भी है और जरूरत भी है ।

अब सोचिए कि जिस हिसाब से भारत के किसान और देहाती लोग कपड़ों को पहन डालते हैं, और कपड़ों की उनमें जितनी असली मांग हुआ करती है, उसी मांग और खरच के अनुसार चरखों और करघों से अगर तय्यार माल उन्हें मिल सके, और यदि वे मिलों के मुकाबले ज्यादा सस्ती रीति से सौर शक्ति काम में ला सकें, तब तो शिल्पी कारबारी दृष्टि से और कट्टर अर्थ-शास्त्री की दृष्टि से चरखों और करघों की उपयोगिता कीमत में मिलों से ज्यादा ठहरती है । मिलों से थोड़े से मनुष्यों के एक समाज को अधिक मुनाफा होता है, यह भ्रम का परदा है । इसे हटा कर हमें यह भी देखना चाहिए कि जो मनुष्य-बल और सूर्य्य-बल इस समय राष्ट्र को उपलब्ध है, उसका ऐसी दशा में बेकार नष्ट होना इतनी भारी हानि है, ऐसा बड़ा टोटा है कि, उसके मुकाबले मुट्ठी-भर पूँजीवालों का भारी-भारी मुनाफ़ा कुछ भी नहीं ठहरता ।

इसी दलील को जब आगे बढ़ाते हैं, तो देखते हैं कि मनुष्य रूपी अंजन ही बेकार कोयला-पानी खा नहीं रहे हैं, बल्कि बहुत से चरखे और करघे भी बेकार पड़े हैं या पूरी तौर पर काम में नहीं आ रहे हैं । विश्वास-योग्य लोगों की यह अटकल है कि भारतवर्ष में लगभग ५० लाख चरखे हैं । सन् १९२१ की गणना से मालूम होता है, कि बरार, मध्य और संयुक्त प्रान्तों को छोड़, शेष

भारत में उस समय १९ लाख ३८ हजार १७८ करघे थे। आज कल इनमें से बहुतेरे चरखे और करघे बेकार पड़े हैं। यह आसानी से काम में लाये जा सकते हैं। इसके सिवा एक नया चरखा बनावट और स्थान के अनुसार २॥) से लेकर ५) तक में तैयार हो सकता है और एक नये करघे में केवल २०) के लगभग खर्च होते हैं। दोनों को गाँव का बढ़ई सहज में ही बिना विशेष-रूप से समझाये-बुझाये तैयार कर सकता है।

अब इन हथकलों के खर्चों के मुकाबले जरा आजकल की कताई की एक मिल खड़ी करने के खर्च को देखिए। इण्डियन टेक्स्टाइल जर्नल* की अटकल में २० हजार तकुओं की मिल खड़ी करने का खर्च १६ लाख, ६० हजार, ९१७ रुपये होते हैं। अर्थात् तकुआ पीछे ८३) से कुछ अधिक खर्च हुआ। यदि इस रकम के पाँच-पाँच रुपये के चरखे बनवा लिये जायँ तो, २० हजार मिल के तकुओं के बदले ३ लाख ३२ हजार १८३ चरखे, अर्थात् हाथ के तकुए बन सकते हैं। जहाँ तकुए सोलह गुने हुए वहाँ सूत की तय्यारी भी मिलों की अपेक्षा कम से कम ग्यारह गुनी अधिक होगी।

'हाथ की कताई-बुनाई' नामक पुस्तक में पृ० २२८ पर खर्च की अटकल को कुछ जरासा बढ़ाकर, खरचे का एक मजेदार मुकाबिला किया गया है। हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

---

*'हिन्दी-नवजीवन' के ३ सितम्बर, १९२५ के अंक में 'मिल-बनाम चरखा' लेख से उद्धृत।

	मिल के बल से	हाथ के बल से
साल में कितने घण्टे का काम	२९२०	२९२०
तकुआ पीछे कते हुए सूत की तौल	१। मन से १॥ मन तक	एक मन पाँच सेर
सूत का नम्बर	१५	१५
तकुआ पीछे खर्च	१००)	३) से ४) तक
खर्च से मुकाबला करके काम का सैकड़ा	१००	२४००
करघा पीछे कुल साल भर की बुनाई	१२ हजार गज (१२०००)	१२ सौ गज (१२००)
साल भर में करघे का खर्च	९००)	२०)
खर्च का मुकाबला करके काम का सैकड़ा	१००	४५०

अब मरम्मत और कारखाने को चलाते रहने के खर्चे का हिसाब कीजिए तो हाथ के इन यंत्रों में तो प्रायः इस तरह का खर्च नहीं के बराबर है, और जो थोड़ी-बहुत मरम्मत कभी दरकार हुई, तो गाँव के बढ़ई और लोहार ही जिसे कर सकते हैं, उस मरम्मत का खर्च ही क्या! मिलों में मरम्मत का और चलाने का खर्च कुछ ऐसा-वैसा नहीं है। मिल की मशीनें नई-नई उन्नतियों के कारण तो अकसर बदल देनी या निकाल देनी पड़ती हैं, अथवा उनकी कीमत घट जाती है। फिर उनका बीमा कराना पड़ता है। हथकलों में तो इन बातों की कोई चर्चा ही नहीं, और यदि कहीं इस तरह का थोड़ा खर्च पड़ा भी, तो मिल के अंधाधुंध खर्चे के साथ उसका मुकाबला ही क्या है।

एक और तफसील की बात पर विचार कीजिए। भारत की मिलों में मालूम होने लायक कोई बढ़न्ती भी की जाय तो उसके लिए विदेशी पूंजी का ऋण लेना पड़ेगा। भारतवर्ष जैसे दरिद्र देश के दरिद्र राष्ट्र के लिए ऋण लेना क्या कोई बुद्धिमानी की नीति होगी? ज़रा श्री फोर्ड की सलाह सुनिए कि इस बारे में क्या कहते हैं। अपनी पुस्तक My Life and Work के १५७ से १७६ पृष्ठ तक में अंशतः वह यह कहते हैं—

"हम ऋण लेने के विरोधी नहीं हैं। साहूकारों के भी विरोधी नहीं हैं। हमारा विरोध यह है कि यह कोशिश न की जाय कि उधार रुपया काम का स्थान ग्रहण कर ले······

कठिनाइयों को हल करने की कोशिश न करने के लिए, उधार लेना सहज में ही बहाना बन सकता है······

कारबारी आदमी के लिए रुपया उधार लेने का अगर कभी समय आता है, तो वह समय होता है जब उसे असल में रुपये की जरूरत नहीं होती, अर्थात् जिन कामों को उसे खुद कर लेना चाहिए था, उनके बदले में जब उसे रुपये की जरूरत नहीं हुआ करती। यदि आदमी का कारबार उत्तम दशा में है और उसके विस्तार की आवश्यकता है, तब उधार लेना और समयों की अपेक्षा कम जोखिम की चीज है।······

उचित उधार के विरुद्ध मुझे कोई पक्षपात नहीं हैं। बात इतनी ही है कि मैं इस जोखिम में नहीं पड़ना चाहता कि कारबार दूसरों के अधिकार में चला जाय और इस प्रकार जिस विशेष प्रकार की सेवा के भाव की मुझ में लगन है, वह दूसरों के हाथ में चली जाय।······

मैं इस बात पर जितना जोर दूँ थोड़ा है कि उधार लेने की सब से बुरी घड़ी वह है जब उधार देने वाले लोग यह समझते हैं कि तुम्हें रुपये की जरूरत है।......

इस बात का तो खयाल करो कि साहूकारों ने कहा कि ऋण ले लो, यही इलाज है। अपने कारबार की रीति सुधारो, यह नहीं बताया। उन्होंने एक शिल्पी या कारीगर रखने की बात नहीं सुझाई। उन्होंने एक खजांची रख देना चाहा।

और साहूकारों को कारबार में शामिल करने में यही तो जोखिम है। वह रुपये आने पाई के ही रूप में सोच सकते हैं। वह कारखाने को रुपया पैदा करने का कारखाना समझते हैं, माल तैयार करने का नहीं। वह रुपये की चौकसी करते हैं, माल की तैयारी की चौकसी नहीं करते।"

अपनी पुस्तक में (पृ० ३२—३३ पर) श्री फ़ोर्ड यों कहते हैं—

"एक और चट्टान जिस पर कारबार टकराके टूट जाता है ऋण है। आज-कल ऋण तो स्वयं एक उद्योग वा कारखाना बन गया है।

जब कारबार ऋण पर चलने लगता है तब उसको दो की दासता करनी पड़ती है। जब रुपये ढोने वाले किसी कारबार को रोक देना चाहते हैं, या हथिया लेना चाहते हैं, तो तुरन्त ही ऋण का जाल फेंकते हैं। कारबार जहां ऋण में फंसा कि उसके दो स्वामी हो जाते हैं, एक ओर जनता, दूसरी ओर साहूकार। (परन्तु साहूकार जबर्दस्त मालिक होता है।) कारबार साहूकारी सेवा के लिए जनता की ओर से उदासीन हो जाता है। हानि जनता

की ही होती है; क्योंकि ऋण कारबार को अपने पक्ष से हटने नहीं देता।

अपनी कमाई को अपने ही भीतर लगाकर कारबार ने अपने को साहूकारों की गुलामी से छुड़ाया है।"

श्री फ़ोर्ड की कम्पनी के एक रेल की सड़क है जिसका बन्दोबस्त वह खुद करती है और जो उसी की मिल्कियत है। इसके सम्बन्ध में श्री फ़ोर्ड लिखते हैं कि इस काम में सारे सुधार हम लोगों ने अपने ही रुपये से किये हैं। इससे श्री फ़ोर्ड के प्रबन्ध का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने बिना ऋण लिये थोड़े ही थोड़े धन से आरंभ करके अपने भारी कारबार को जमाया है।

अंत में, यह कहा जा सकता है कि शायद भारतवर्ष कोयला तेल और जल की शक्ति के विस्तृत प्रयोग में कभी भविष्य में और राष्ट्रों का अनुसरण करे। परन्तु, यह अनुसरण वास्तविक उपयोगिता के साथ, और इस ढंग पर कि उसकी सारी आबादी और सारे संसार को लाभ पहुँचा सके और केवल थोड़े से मिल मालिकों और साहूकारों को ही नहीं,—तभी हो सकेगा जब उस पर पर्य्याप्त विचार किया जायगा और कुछ काल तक बड़ी सतर्कता और संयम से काम लिया जायगा। और भविष्य के लिए चाहे यांत्रिक बल की ही योजना ठीक ठहरे और चाहे बिना यंत्र-बाहुल्य के ही काम चले, अभी के तात्कालिक होनहार के लिए तो सबसे अधिक बुद्धिमानी का काम यह है कि हाथ की कताई-बुनाई के द्वारा अपनी सौर शक्ति का जितना हो सकता है पूरा उपयोग किया जाय। सुधरी हुई खेती-बारी पीछे आवेगी, उसपर हम ग्यारहवें अध्याय में विचार करेंगे। हाथ की कताई-बुनाई के द्वारा एक बार

फिर भारतवर्ष खेती और उद्योग के बीच वह साम्य स्थापित कर सकेगा, जो यहाँ पौने दो सौ बरस पहले था। और यह बिना उन मानवी दुर्दशाओं या अन्य कठिनाइयों के कर सकेगा, जो बड़े-बड़े नगरों में अनिवार्य हो गई हैं। शिल्पी के विचार से तो खेती-बारी में संभाव्य सुधारों की अपेक्षा खद्दर की तय्यारी अत्यधिक तात्कालिक महत्व का काम दिखाई पड़ता है। इन सब बातों पर विचार करते हैं तो परिणाम यह होता है कि गांधीजी बड़े भारी औद्योगिक शिल्पी ठहरते हैं।

तीसरा अध्याय

मिल के कपड़े और खद्दर की होड़

पिछले पृष्ठों में जो विचार हम कर आये हैं, उनके रहते भी होड़वाली बात तो कहीं जाती नहीं। होड़ का क्या होगा?

पहली दृष्टि से तो यह सुनकर लोग हँसेंगे कि खद्दर भी मिल के कपड़ों की होड़ कर सकेगा। करण यह है कि नन्हे से हाथ के चलाये चरखे के मुकाबले में अंजन के बल से चलनेवाली मिल के बने माल की तय्यारी कितनी ज्यादा है।

एक उदाहरण लीजिए। संयुक्त राज्य में रूई से सूत कातने वाली मिलों के मालिकों की एक राष्ट्रीय सभा है। १५ नवम्बर १९२६ की उसकी रिपोर्ट में "सूत की तय्यारी में उन्नति" नाम का एक लेख है। उसमें न्यू इंग्लैंड काटन मिल के १९२५ ई० के यह अंक दिये हैं—

एक घंटे का तय्यार माल	
तकुआ पीछे	.०७६* पौंड
करघा पीछे	२. ०१ पौंड
ग्यारह घण्टे के दिन में करघा पीछे प्रतिदिन	५७.०४ गज।

---

* सब नम्बरों के सूत का औसत।

पहली सारिणी

(केवल १९२५ वाला अंश)

प्रति-मनुष्य प्रति-घंटा तय्यारीमाल

नाप तौल की इकाई में	कपड़े की मात्रा जो प्रति-मनुष्य प्रति-घंटे तैयार होता है
तोल के पौण्ड	७.५३ (सादा कपड़ा) ८.९४ (फ़लालैन) ७.८३ (दोनों)
"डी" दरजे के माल को बाने के अनुसार आंक कर तोल में पौण्ड	८. १२ (सादा) ४. ३६ (फ़लालैन)
सब तरह के माल को ३६ बाने प्रति इंच के हिसाब से बैठा कर, तोल में पौंड	८.३१ (सादा) ४.०४ (फलालैन)

TABLE 1. +

(Portion for 1925 only.)

MAN–HOUR PRODUCTION

Unit of measurement	Units of Cloths Produced Per man-hour.
Straight Pounds	7.53 (sheeting) 8.94 (flannel) 7.83 (both)

+ इस सारिणी का भरसक शाब्दिक उल्था पाठकों की कुतूहल शांति के लिए पहले दे दिया गया है। उल्थाकार को जब मूल अच्छी तरह समझ में न आया तो उसने ग्रन्थकार से पूछा। उन्होंने उत्तर में लिखा

Pounds based on "D" Grade product reduced to picks.	8.12 (sheeting) 4.36 (flannel)
Product reduced to 36-inch picks.	8.31 (sheeting) 4.04 (flannel)

इन सीधे तोल के अंकों को जब हम कताई के अंकों में परिणत करके रखते हैं, तो यह प्रकट होता है कि अमेरिका की आजकल की रुई-मिल में एक आदमी के एक घण्टे की मेहनत से, रूई के पहल से आरम्भ करके कपड़ा तक बुनने में, बीस नम्बर के सूत के एक लाख पैंतीस हजार गज कत कर लग सकते हैं। निस्सन्देह विलायत की मिलों के अंक मिलते तो माल की इसी ऊँचे परिमाण की तैयारी प्रकट करते।

जहाँ तक अंकों का मिलान हो सकता है, मुकाबले के लिए गांधीजी के पत्र 'हिन्दी-नवजीवन', ५ मई, सन् १९२७ के अंक में छपी रिपोर्ट देखिए, जिसमें लगातार चौबीस घण्टों तक के उस समय की कताई के ऊँचे अंक दिये गये हैं, जब कि साबरमती के सत्याग्रहाश्रम में राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया था। सब से ऊँचा अंक उस नवयुवक का था जिसने राष्ट्रीय महासभा के समय सन् १९२५-२६ के जाड़ों में सभी होड़ियों में सब से ऊँचा अंक दिखाया था।

कि इसका समझना उन लोगों के लिए कठिन है जो अमेरिका के मिलों से पूर्ण परिचित नहीं हैं। यह अंश उन्हीं विशेषज्ञों के लिए दिया गया है जो इसे समझ सकते हैं। इसीलिए हम ने उसका मूल-रूप अंग्रेजी में भी दे दिया है —उल्थाकार।

साबरमती के चार सर्वोत्तम कातनेवालों ने यह अंक दिखाये थे—

	पूरे गज	औसत प्रतिघंटा	कितने घंटे काता
१—	१४,७८४	६४१	२३
२—	१२,८८५	५३६	२४
३—	१०,९३३	४७५	२३
४—	५,७६१	५२३	२१

पहले बारह घण्टों तक तो सर्वोत्तम अंकवाले युवक ने घण्टा पीछे ६६५ गज का वेग कायम रखा *। इन चारों के सूत के नम्बर १३ से १५ तक थे, मजबूती ५७ से ७० प्रतिशत थी, और बराबरी ७९ से ९३ प्रतिशत तक थी, उन प्रमाणों से जो अखिल भारतीय चरखासंघ में माने जाते हैं। औसत नम्बर १४ मान लेने पर ६४१ गज चरखे के सूत की तौल, जो एक घण्टे में कता, .०५५ पौंड हुआ, जैसा कि 'हिन्दी-नवजीवन' के सन् १९२७ के अपरैल मास के अंकों में दिया हुआ है।

उसी सप्ताह में साबरमती में एक देवी ने तेरह घण्टों में प्रतिघण्टे ४०८ गज के हिसाब से २६ अंक का ८५ प्रतिशत मजबूती का और ८४ प्रतिशत समानता का ५३३३ गज सूत काता।

तिरुचेनगोड् स्थान में किसान स्त्रियां बारह अंक का सूत पांच सौ गज प्रति घण्टा के हिसाब से काता करती हैं।

---

* तब से मदरास की खादी-प्रदर्शिनी में इसी युवक ने दो घण्टे में चौदह सौ गज काता। सूत २१ अंक का था। समानता ८७ प्रतिशत थी और मजबूती ७४ प्रतिशत थी।

औसत कातनेवाले की दर बिना अत्युक्ति के साढ़े तीन सौ गज प्रति घण्टा रखी जा सकती है और अधिकांश गांवों में औसत अंक सूत का १२ से १५ तक रखा जा सकता है जो वस्तुतः मोटा ही सूत का प्रकार है।

पिछले भारतीय और अमेरिकावाले अंकों का ठीक-ठीक मुकाबला तो हो नहीं सकता; क्योंकि अमेरिकावाले अंकों में सभी अंकों के सूत शामिल हैं। तो भी होड़ के लिए कम से कम मोटा-मोटा मुकाबला उचित रीति से हो सकता है।

इस मुक़ाबिले से मालूम होता है कि प्रति मनुष्य प्रति घंटा चरखे की अपेक्षा मिल दो सौ तीन गुना अधिक सूत कातती है, जब कि चरखा अत्यन्त कुशलता से चलाया जाता है, और दो सौ छत्तीस गुना अधिक सूत कातती है, जब चरखा साधारण कौशल से चलता है। तकुआ पीछे प्रति घंटा का हिसाब लें तो मिल का अंक .०७६ पौंड और चरखे का अंक .०५५ पौंड ठहरता है जब कि चरखा पूरे वेग से चलता है। इस दूसरे मिलान के लिए अधिक न्याय्य यह होगा कि साधारण कातने वाले की दर अर्थात् ३५० गज प्रति घण्टे का ही हिसाब किया जाय। इस तरह प्रति घंटा प्रति तकुआ .०७६ पौंड मिल का सूत हुआ। और ·०३० पौंड साधारण औसत चरखे का सूत हुआ इसका अर्थ यह हुआ कि मिल का तकुआ एक घंटे में चरखे के तकुए की अपेक्षा तौल में ढाई गुना अधिक सूत कातता है। बीस नम्बर के सूत के लिए भारतीय मिलों का तकुआ चरखे के तकुए की अपेक्षा शायद प्रति घंटा दूनी तौल का सूत कात लेता

है।* यह तो कताई के तय्यार माल का मुकाबला हुआ।

करघे के तय्यार माल के मुकाबले के लिए अंकों का मिलना सहज नहीं है। सन् १९२५ के नीचे लिखे अंक अमेरिकावाले उस रिपोर्ट से लिये गये हैं, जिससे हम ऊपर अवतरण दे चुके हैं (इसमें सूत का औसत नम्बर नहीं दिया गया)

करघा पीछे प्रति घंटा तैयारी माल	२.०१ पौंड
करघा पीछे प्रतिदिन ग्यारह घंटे के दिन का बुना कपड़ा	५७.०४ गज (नम्बरी)
प्रति मनुष्य प्रति घंटा तय्यार कपड़ा	७.८३ पौंड
प्रति करघा प्रति घंटा बुना कपड़ा	५.१८ गज (नम्बरी)

एक विश्वास-योग्य अटकल मुझे मिली है। इसमें ३० इञ्च के पनहे का कपड़ा, मोटे सूत का, (परन्तु नम्बर नहीं लिखा गया) घंटे में एक गज बुना जाता है। प्रति मनुष्य प्रति घण्टा कितने गज बुनता है, इस हिसाब से तो मिल में हथकरघे की अपेक्षा बीस गुना अधिक माल तय्यार होता है। ऊपर जिस निबन्ध से अवतरण दिया गया उसी निबन्ध में अर्थात् हाथ की कताई-बुनाई में (पृष्ठ २२८ पर) दिखाया गया है कि १५ अंक का सूत लगाकर मिल का करघा हाथ के करघे से दस गुना बुनता है। उसमें प्रति घण्टा प्रति मनुष्य का काम नहीं दिखाया गया है।

---

* हाथ की कताई-बुनाई—सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर। श्री पुणतांबेकर और श्री वरदाचारी-लिखित का उल्था। १९२७ का संस्करण। पृष्ठ २२७।

इन अंकों का संक्षेप यों किया जा सकता है। मिल का माल हाथ के माल की अपेक्षा लगभग इतने गुना ज्यादा होता है—

	कल पीछे (तकुआ या करघा)	प्रति घण्टा आदमी पीछे
कताई	२ से २॥ गुने तक	२०३ से २८६ गुने तक
बुनाई	५ से १० गुने तक	२० गुना

मिल के और हाथ के बुने कपड़े की कीमतों का मिलान करने के पहले, यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि कीमतों का खयाल और अधिक उत्तमता से माल तैयार करने का खयाल छोड़कर भी, कुछ तरह के और दरजे के कपड़े ऐसे भी हैं जिन के लिए हाथ के करघे की होड़ मिल का करघा न तो करता है और न सफलता-पूर्वक कर सकता है।* सन् १९१९ के भारतीय औद्योगिक कमीशन की रिपोर्ट के पृष्ठ १० और ११ पर कहा गया है कि हाथ का करघा जो अब तक चीमड़ेपन के साथ थमा हुआ है उसका कारण कुछ तो यह है कि भारत की पुराण-प्रियता अनेक विभिन्न प्रकारों के कपड़ों का पहनना अनिवार्य कर देती है। इनमें से प्रत्येक प्रकार के लिए माँग बहुत थोड़ी थोड़ी होती है। और नमूने इतने खास खास तरह के हैं कि कल-बल वाला करघा नफे के साथ उन्हें बना नहीं सकता।†

*Cmd. 51 of 1919, Royal Stationery Office, London. Also from Indian Government Central Publication Branch, Calcutta.

†In accord see p. 274 of Decennial Report on Moral and Material Progress in India, cited on p. 155 of V. G. Kale's *Indian Economics*, 1924 ed., Poona City.

मद्रास सरकार के बुनाई की कला में प्रमाण माने जाने वाले अफसर श्री अमलसाद इस विषय में कहते हैं—

"इस प्रान्त के दरिद्र से दरिद्र श्रेणी के लोगों में भी यह विश्वास कि मिल के बने कपड़ों की अपेक्षा हाथ के करघे के कपड़े अधिक टिकाऊ होते हैं, ऐसा दृढ़ जमा हुआ है कि उसमें किसी तरह की ढिलाई नहीं आई है। यही बात है कि प्रान्त भर में एक दम दूर के बीहड़ देहात में भी अनेक हाथ के करघे मोटे और मझोले मिल के ही सूत से कपड़े बुनने में आज भी लगे हुए हैं।.........इसी तरह वहाँ के मध्यम और उत्तम श्रेणी के निवासी भी त्योहारों और मांगलिक कामों के समय हाथ के करघे के बने साधारण बारीक और अत्यन्त कीमती और बहुत महीन कपड़े बराबर पहनते आये हैं, यद्यपि यह मिल के बने माल से कहीं अधिक दामों के होते हैं। इनके सिवा देशी बुनने वाले अपनी स्वदेशी रीति पर थोड़ी थोड़ी लम्बाई की तानी तनकर कम खर्च में ही भांति भांति की रंगीन साड़ियाँ और पोशाक के लायक अनेक बढ़िया नमूने के कपड़े सदा से स्वभावतः बनाते आये हैं। फिर बड़ी जाति की हिन्दू स्त्रियाँ विशेष रूप से बड़े सुन्दर और श्रम से रचे कामदार और एचपेच के मनोहर बेल-बूटों से सजे कपड़े पहनती हैं और गफ्फिन काढे हुए जरी के चौड़े कामदार और भांति भांति के नमूने की किनारे वाली उत्तम साड़ियाँ भी पहनती हैं। यह कपड़े साधारण यंत्र-बल से चलने वाले करघों में बन ही नहीं सकते।.........इसके सिवा यह प्रान्त इस बात में अनोखी रीति से बड़ा भाग्यवान् है कि व्यापारियों में मदरासी रूमालों और लुंगियों के नाम से मशहूर रंगीन

माल के व्यापार का इसने विकास किया और अब तक साल में लगभग बीस लाख का माल बाहर भेजा करता है। विशेष प्रकार के वानस्पतिक रंगों का प्रयोग करके धामा-छाहीं बुनाई की जाती है। ताना एक रंग का होता है और बाना उसी के मुकाबले के या जवाब के रंग का है। यह क्रिया बुनने में ही की जाती है। इस प्रान्त के पूरबी किनारे के जिलों में बारह हजार से अधिक करघे इसी तरह का माल तय्यार करने में लगे हुए हैं

इसलिए यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि वह समय अभी बहुत दूर, अत्यन्त दूर है, जब कि यंत्र-बल से चलने वाले करघे हाथ से चलने वाले करघों को एकदम निर्मूल कर सकेंगे। लोगों की पुरानी रीति और पहरने ओढ़ने के ढंग राष्ट्र में जो अपना दृढ़ स्थान कर चुके हैं और मूल्य की दर में जो असमानता है उसे लोग इतना सह चुके हैं कि यह देशी बुनकार की रक्षा के लिए बड़ी मजबूत दीवार है। इनको मिल का माल ढहाना चाहे और शायद ढहावे भी तो बहुत बहुत काल लगेगा।" *

इस सम्बन्ध में यह भी कह देना उचित होगा कि इन बुन-

---

*D. M. Amalsad, *Handloom Weaving in the Madras, Presidency*, Superintendent, Government Press, Madras, 1925, p. 2, 3. In accord see R.D. Bell, *Notes on the Indian Textile Industry with Special Reference to Hand Weaving*, 1926. Superintendent of Government Printing and Stationery, Bombay.

कारों में एक अच्छी संख्या उनकी है जो हाथ का कता सूत बुनते हैं। श्री अमलसाद अपनी पुस्तिका में और एक स्थान पर इस बात को स्वीकार करते हैं।

कीमतों की दर का विस्तृत मिलान तो मिलना अधिक कठिन है। जतन से संग्रह की हुई अटकलों से * पता चलता है कि कपास उपजाने वाले जिलों में जो देहाती कतवारियाँ अपने लिए कपास संग्रह करती हैं, और आप ही ओट लेती हैं, धुन लेती हैं, और कात भी लेती हैं, और इस तरह जिन्हें बुनकार को अपने लिए बुनाई-मात्र देना पड़ती है, उन्हें मिल के कपड़ों की अपेक्षा अपने कपड़े अत्यन्त सस्ते और सुभीते के पड़ते हैं। इसके विपरीत, जो आदमी आप इस तरह का कोई काम नहीं करता और शहर के बाजार में दाम देकर कपड़ा मोल ही लेता है उसे मिल के कपड़े के मुक़ाबले खद्दर का दाम दूना देना पड़े तो कोई अचरज की बात न होगी। दामों का भेद और कपड़े के प्रकार इतने अनगिनत हैं कि उनके वर्णन से हमारा पार न लगेगा।

होड़ की संभावनाओं पर ठीक-ठीक अटकल करने के लिए हमें पहले भारतीय कपड़ा-बाजार का विश्लेषण करना होगा।

पहले तो सात तरह की खरीदारी या दाम का हमें भेद समझना होगा—

(अ) देहातिन अपने लिए खेत से कपास संग्रह करती आप ही ओटती, धुनती और कातती है और बुनकार की मजूरी-भर देती है।

---

* देखो, 'चरखा एक ही घरेलू व्यवसाय' इसी पुस्तक का परिशिष्ट (ख)।

(इ) देहातिन अपने लिए कपास मोल लेती है, आपही ओटती, धुनती और कातती है और बुनकार को बुनाई देती है

(उ) देहातिन ओटी रूई मोल लेती है, आप ही धुनती और कातती है और बुनकार को बुनाई देती है ।

(ए) कतवारी किसी धुनिये या पिंजारी से पूनियाँ मोल लेती है, कातती है, और बुनकार को मजूरी देकर बुनवाती है ।

(ऐ) देहाती कोई काम कपड़े के संवन्ध का नहीं करता और कपड़ा सीधे बुनकार से मोल ले लेता है ।

(ओ) कोई आदमी किसी ऐसी दूकान से कपड़ा खरीदता है जो स्थानीय या प्रान्तीय खद्दर-संगठन की है और केवल शुद्ध खद्दर वेचती है ।

(औ) कोई आदमी गाँव, कसवा या शहर की किसी साधारण बजाज की दूकान से कपड़ा मोल लेता है ।

इस अंतिम रूप में तो कपड़ा चाहे खद्दर हो चाहे मिल का हो । (ऐ) में कपड़ा हाथ के करघे पर बुना गया है तो भी मिल के सूत का हो सकता है । इसे बहुधा "अर्धखद्दर" "नकली खद्दर" या "झूठा खद्दर" भी कहते हैं ।

मूल्य के तत्त्व इन सब विभेदों में परस्पर भिन्न हैं । सब मिलाकर खरीदार को सबसे कम खर्च (अ) में पड़ता है । सबसे ज्यादा (औ) में पड़ता है, शर्त यह है कि कपड़ा शुद्ध खद्दर हो । उसी मेल के मिल के कपड़े की अपेक्षा खद्दर का दाम गज पीछे अत्यन्त कम पड़ता है । इसमें मिल का कपड़ा खद्दर से होड़ नहीं कर सकता ।

(अ) समुदाय की जनसंख्या मालूम नहीं है । तो भी

(अ) से लेकर (ए) तक, पांचों समुदाय मिलाकर शायद कम से कम नौ करोड़ मनुष्य होंगे, जैसा कि भांति भांति की अटकलों और सरकार द्वारा की हुई चरखों और करघों की गणना से और करघों की बनवाई के अंकों से मालूम होता है। सन् १९२४-२५ में भारतीय कपड़े की खपत ४ अरब ९३ करोड़ नम्बरी गज कूती गई थी। इसमें से सैकड़ा पीछे २८ या १ अरब ३८ करोड़ नम्बरी गज मिल के सूत से हाथ के करघों पर बुना गया था। यह सैकड़े का हिसाब सन् १९२२ से सन् १९२६ ई० तक बराबर बना रहा*। भारत की सारी जन-संख्या का (जो सन १९२१ ई० में ३१ करोड़ ६० लाख थी) अट्ठाईस प्रतिशत ८ करोड़ ८४ लाख ८० हजार होता है।

गांधी जी और उनके अनुयायियों की लगातार कोशिशों का फल यह है कि धीरे धीरे (अ) से (ऐ) तक के समुदायों की संख्या बढ़ रही है। कुछ प्रान्तीय सरकारें भी हाथ के करघे और चरखे के काम को बढ़ावा दे रही हैं, यद्यपि इसमें उनको सफलता कम हो रही है। वह मिल के सूत के इस्तेमाल पर जोर दे रहे

---

*See Memorandum on cotton, International Economic Conference, Leage of Nations, Geneva, May 1927; Constable London. Compare also, A. C. Coubrough, C. B. E.—Notes on *Indian Piece Goods Trade*, No. 16, of Bulletins of Indian Industries and Labour, 1921,—Superintendent of Government Printing, Central Publication Branch Calcutta.

हैं, जिसका गांधी जी विरोध कर रहे हैं। गांधीजी के आन्दोलन का अन्तिम उद्देश्य यही है कि (अ) का समुदाय बढ़े, सारी देहाती आबादी को सूत मिले और नागरिक भी जितना सूत चाहें उन्हें मिल सके। जब कि सन् १९२१ की सरकारी गणना से प्रकट है कि भारत की पूर्ण जन-संख्या का सैकड़ा पीछे साढ़े नब्बे अथवा कुल २६ करोड़ ६० लाख २९ हजार मनुष्य देहात में रहते हैं, और जब कि कपास की उपज भारत के प्रायः सभी प्रांतों में हो सकती है या होती है, तब तो कम से कम यह संभावनायें अवश्य हैं कि खद्दर मिल के कपड़े को हटाकर उसका स्थान ले ले। इस प्रसंग में जो और कारण हैं उन पर आगे चलकर विचार किया जायगा।

कपड़े के बाजार के विश्लेषण में दूसरी बात है, कपड़े को खर्च करने वालों का विचार। खर्च करने वालों के चार समुदाय इस प्रकार होंगे—

(१) किसान और उनके परिवार के लोग जो कम से कम साल में तीन महीने तो जरूर बेकार रहा करते हैं। अगर वह बेकारी के दिनों में नित्य चार से लेकर आठ घण्टों तक चरखा कातें तो वह न केवल अपने पहरने भर को सूत तय्यार कर लें, बल्कि इस तरह इतना और अधिक कमा लें कि जितना वह मिल के कपड़े खरीदने में खर्च किया करते थे और कपड़े के नाते उनका साल का खर्च बहुत घट जाय। सरकारी गणना की रिपोर्ट में दी गई चराई और खेती-बारी के सहारे रहने वाली पूरी संख्या में से यदि हम जमींदार और रईसों की संख्या निकाल दें तो इस समुदाय की संख्या निकल आवेगी जो लगभग २१ करोड़ ८०

लाख के होगी। अभी के व्यावहारिक कामों के लिए तो उनकी संख्या इससे कहीं कम ठहरेगी। मोटे हिसाब से जितने चरखे इस समय मौजूद हैं उतनी ही इस समुदाय की संख्या भी जान पड़ेगी। १९२१ की गणना में बरार, मध्य और संयुक्त प्रान्तों को छोड़, कुल चरखे सारे भारत में १९ लाख ३८ हजार १७८ थे। विश्वस्य अटकल से सारे देश में कुल ५० लाख चरखे होंगे। यह मान लें कि इनका पंचमांश-मात्र काम में हैं और यह भी मान लें कि परिवार के चार प्राणियों के पीछे एक चरखा है, तो इस समुदाय के खद्दर खर्च करने वालों की संख्या ४० लाख ठहरती है। इसमें तो शक नहीं कि इनमें से अनेक केवल पुराण-प्रियता के कारण गाँधीजी के आन्दोलन आरम्भ करने के बहुत पहले भी बराबर कातते बुनते और खद्दर पहनते थे। १९२१ की गणना में इस कूत की सांभाविक भूल का सुधार भी मौजूद है। उसमें लिखा है कि कपड़े के व्यवसाय में "वास्तविक काम करने वाले" ४० लाख ३० हजार ६७४ हैं, परन्तु समस्त रुई, ऊन और जूट (पटसन) के मिलों में मिलाकर काम में लगे हुए लोगों की संख्या केवल ६ लाख २२ हजार १९८ है। शेष संख्या ३४ लाख ८ हजार ४७६ में वह ओटने वाले, धुनने वाले, कातने वाले और बुनने वाले अवश्य ही शामिल होंगे जो हाथ के औजारों से ही काम लेते हैं। साथ ही यन्त्र-बल से ओटने वाली मिलों के काम करने वाले लगभग ८५ हजार के, इसी में सम्मिलित होंगे। उस साल कपड़े के व्यवसाय से जीविका वालों की पूर्ण संख्या ७८ लाख ४७ हजार ८२९ लिखी गई थी।

(२) वह लोग हैं जो किसान तो नहीं हैं परन्तु खद्दर के

आन्दोलन में विश्वास करते हैं और मिल के कपड़ों से ज्यादा दाम देना पड़े तो भी वह खद्दर ही खरीदेंगे। सब तो नहीं, पर इनमें से बहुतेरे अपनी इच्छा से सूत काता करते हैं। इस समुदाय की संख्या कुछ हजार के लगभग होगी। होड़ के प्रसंग में उनकी संख्या कोई विशेष अर्थ नहीं रखती। महत्व उनके प्रभाव का है। यह पक्के आन्दोलनकारी काम करने वाले और वास्तविक नेता हैं। यह पहले समुदाय की संख्या बराबर बढ़ाने में लगे हुए हैं।

(३) वह लोग हैं जो मिल के सूत से हाथ के करघों पर बने कपड़े खरीदते हैं। हम यह देख चुके हैं कि इनकी संख्या ८ करोड़ ८० लाख के लगभग है। चरखे का सूत ज्यों ज्यों सुधरता जायगा त्यों त्यों और अगर मिल के सूत का भाव चढ़ेगा तो भी इस समुदाय में से निकलकर लोग पहले समुदाय में चले जायँगे।

(४) वह लोग जो मिल का ही कपड़ा खरीदना ज्यादा पसन्द करते हैं। यह लोग अधिकांश मिल के कपड़ों को सस्ता या हलका पाकर ही खरीदते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो मिल का कपड़ा इस लिए लेते हैं कि उसे आर्थिक दृष्टि से उचित नीति समझते हैं। अधिक से अधिक शहर के ही रहने वाले इसमें शामिल हैं जो आबादी के दशमांश के लगभग हैं। साथ ही इस समुदाय में करोड़ों गाँव के रहने वाले भी सम्मिलित हैं। इस समुदाय में से एक भी कातने आदि कपड़े के सम्बन्ध का कोई काम नहीं करता।

यह तो हुआ कपड़े के बाजार का विश्लेषण। इससे खद्दर

की खपत की सम्भावनाओं को कुछ समझने में सुझाता हुआ।

अब होड़ के सम्बन्ध में माल तैयार करने के एक साधन के मिलान पर विचार करना चाहिए।

हम इस बात को देख चुके हैं कि जिस जिस तरह के कपड़े बहुत अधिक मात्रा में भारतवर्ष में* काम में आते हैं उसमें काम आने वाले सूत को मिल का तकुआ घण्टा पीछे चरखे की अपेक्षा दो-ढाई गुना ज्यादा तैयार करता है। मिल का करघा तो हाथ के करघे की अपेक्षा पँचगुने से लेकर दस गुना अधिक माल तय्यार करता है।

मनुष्य के प्रति घण्टे काम कर सकने का मिलान करने में यद्यपि मिल के यन्त्र अधिक कामकाजी और उपयोगी ठहरते हैं, तो भी इस सम्बन्ध में उनकी उपेक्षा ही करनी चाहिए, क्योंकि भारतवर्ष में जहाँ बेकार या कम काम करने वालों की संख्या इतनी भारी है "मेहनत बचाने वाली" मशीनों के प्रयोग की बात इस विचार में बिलकुल असंगत ठहरती है। भारत को आज "मेहनत बचाने की" जरूरत नहीं है। बल्कि हमें तो बेकारों के लिए मेहनत का काम खोजकर निकालने की जरूरत है। हाँ, भारत को यह जरूरत हो सकती है कि काम करने वालों में से कुछ का "समय बचाने" के उपाय करे, परन्तु साथ ही यदि इन

*सन् १९२५–२६ में भारतीय मिलों में ६८ करोड़ ४० लाख पौण्ड सूत कता। इसमें से ४४ करोड़ ४७ लाख पौंड तो १ से लेकर २० नंबर तक का सूत था, और २१ करोड़ ३८ लाख पौण्ड २१ से लेकर ३० नंबर तक का सूत था। किसान बेचारे इतने दरिद्र हैं कि बारीक कपड़े खरीद नहीं सकते और इन्हीं की आबादी सब से ज्यादा है।

उपायों से उनकी मजूरी बढ़ सके और बचे समय को देश के लाभ के और कामों में वह लगा सकें, और साथ ही यदि उनके कारण दूसरे लोग और भी बेकार न हो जायँ। यह तो हम देख चुके हैं कि देहात के काम करने वालों की पूरी संख्या यदि वर्ष में कम से कम तीन महीने बेकार रहती है, तो उसका अर्थ हुआ कि कुल २ करोड़ साढ़े ६७ लाख आदमी पूरे साल भर बेकार रहते हैं। जब हाथ की कताई की थोड़ी-बहुत कुशलता सारे भारत में जग चुकी है और जब इस कला के सीखने में समय भी थोड़ा ही लगता है, तो यह लगभग पौने तीन करोड़ आदमी होनहार कातने वाले ही समझे जाने चाहिए। इन लोगों के लिए घर बैठे काम करने में कुछ न पाने से तो थोड़ी से थोड़ी मजूरी भी पा लेना बहुत अच्छा है। किसी मिल की कलों से जितने मनुष्य प्रति घंटे की किफायत होगी, उससे लाखों गुना अधिक मनुष्य प्रति-घंटे-बल काम में आने को बेकार पड़ा है। सन १९२० की गणना के अनुसार अमेरिका के संयुक्त राज्यों के समस्त रुई और कपड़े की मिलों में जितने मनुष्य काम करते हैं उनकी पूरी आबादी से दो सौ बयासी गुना अधिक काम करने योग्य मनुष्यों की अपार सेना यहां भारत में बेकार है। इस लिए यह दलील कि अमेरिका के तकुए से यहां के चरखे की अपेक्षा दो सौ छियासी गुना अधिक काम होता है बिलकुल बेसुरी लगती है। भारत में तो मनुष्य प्रति घंटा काम आने वाले बल का घोर अजीर्ण है। इसी लिए भारत को चाहिए कि किसी ऐसी वस्तु की रक्षा करे जो उसके पास कम है, और जिसकी उसे जरूरत है।

सभी आर्थिक कर्म्मण्यता का अन्तिम उद्देश्य यही होता है

कि अन्त के सभी खर्च करने वालों के लिए पूरा खाना, पूरा कपड़ा, पूरी रक्षा की जगह और और मनुष्योचित आवश्यक वस्तुयें पूरी मिलें। दो भिन्न प्रकार के आर्थिक उद्योगों की सापेक्ष उपयोगिता की अटकल करने में, उसी अन्तिम उद्देश्य के विचार से हमारे नाप जोख की इकाइयों में पारस्परिक संबन्ध होना चाहिए और उसीके अनुसार उनमें संशोधन भी होना चाहिए। यदि ऐसा न होगा, तो हमारे निष्कर्ष चाहे यंत्र-विद्या की दृष्टि से सन्तोष-दायक भी ठहरें, परन्तु सम्पत्ति-विज्ञान के क्षेत्र में वह ठीक न समझे जायँगे। इस विषय के और अधिक विश्लेषण की चेष्टा बिना किये ही शायद अब यह कहा जाय कि इस विशेष विचाराधीन विषय में मनुष्य प्रति घंटा की अपेक्षा औजार प्रति घण्टा या कल प्रति घण्टा वाली इकाई माल की तैयारी की आर्थिक दृष्टि से अधिक योग्यता की जाँच के लिए ज्यादा उचित और ठीक नाप-जोख होता। मनुष्य प्रति घण्टा की इकाई अत्यधिक यन्त्रशास्त्रीय है और अन्तिम खपत के साथ उसका सम्बन्ध अत्यन्त थोड़ा है। औजार प्रति घण्टावाली इकाई में देश-काल और परिस्थिति के अधिक साधन निहित जान पड़ते हैं जो अन्तिम खर्च करने वालों के द्वारा माल के वास्तविक उपयोग का सम्बन्ध जोड़ने में सहायक हैं।

होड़ वाली कीमतों पर बेकारी का जो प्रभाव एक और तरह पर पड़ता है उसका वर्णन आगे चलकर बेकारी वाले अध्याय में किया गया है। "कपास कला की कुछ विशेष बातें" वाले अध्याय में इस बात पर विचार किया गया है कि मिल के कपड़ों की अपेक्षा खद्दर का टिकाऊपन कैसा है और उसका

प्रभाव उनके पारस्परिक होड़ पर कैसा पड़ता है। क्या और व्यवसायों से मुकाबला करने के लिए कताई की मजूरी काफ़ी मिलती है या मिल सकती है, इस बात पर आठवें और दसवें अध्याय में विचार होगा। खद्दर और मिल के कपड़े की होड़ का प्रभाव बम्बई, जापान और लंका-शहर के मिल वालों पर कैसा पड़ेगा; इस पर दसवें अध्याय में विचार किया गया है।

चौथा अध्याय

होड़ को घटाने वाले हेतु

यदि चरखे की काम करने की योग्यता केवल ढाई गुना बढ़ा दी जा सकती है तो वह मिल के तकुए के बराबरी का हो जाता। और अगर हाथ के करघे की काम करने की योग्यता दस गुनी बढ़ा दी जा सकती तो वह भी मिल के करघे की बराबरी का हो जाता।

इस उद्देश्य से अखिल भारतीय चरखा संघ द्वारा और बहुतेरे प्रान्तीय खद्दर संगठनों द्वारा एवं निजी तौर पर आविष्कारों द्वारा आजकल परीक्षायें की जा रही हैं। बहुत दृढ़ संभावना है कि अगले तीन बरसों के भीतर चरखे की योग्यता दूनी या तिगुनी हो जाय। यंत्रशास्त्र की दृष्टि से तो यह कोई विकट प्रश्न नहीं है। यदि तीन तकुओं पर एक ही मनुष्य एक-साथ कात सके तो यांत्रिक प्रश्न सुलझ जाता है। परन्तु हर तागे पर बराबरी आदि का ध्यान और काबू रखने के लिए उपाय करना ज्यादा कठिन है। आरंभिक पद्धतियों का सुधार इसमें बहुत सहायक होगा। करघे की योग्यता को दूना कर देना शायद सम्भव हो। परन्तु दसगुना कर सकने की सम्भावना नहीं दीखती। इसका इलाज तो भी इस तरह हो सकता है कि आजकल जो इतनी बड़ी संख्या बेकारों की है उन्हीं में से बुनकारों की एक ज्यादा बड़ी संख्या तय्यार कर ली जाय।

निश्चय ही मिल के माल तैयार करने की ताकत बढ़ाने के लिए भी और सुधार हो सकते हैं। परन्तु शायद बहुत थोड़ी बढ़ती हो सकेगी। इस उद्देश्य को लेकर बहुत विचार और बड़ी होशियारी खर्च की जा चुकी है। तीसरे अध्याय में अमेरिका की जिस रिपोर्ट की चर्चा है उसमें लिखा है कि "पिछले पचहत्तर वर्षों के भीतर माल की तय्यारी आदमी पीछे लगभग सतगुनी के बढ़ चुकी है।" उससे यह भी पता चलता है कि इतने समय में घंटा पीछे प्रति तकुआ और प्रति करघा तैयार माल को पौंडों में आंकते हैं तो सिद्ध होता है कि ठीक दूना भी नहीं हुआ है। इससे यह प्रकट होता है कि कुछ नम्बर के सूत के लिए तो शायद चरखा इस हिसाब से लगभग उतनी ही योग्यता रखता है जितना कि पचहत्तर बरस पहले यंत्र-बल वाला तकुआ था।

बीते छः बरसों में भी हाथ के औजारों से तय्यार माल की मात्रा में देखने लायक बढ़न्ती हुई है। जैसे साबरमती के सत्याग्रहाश्रम में ही सन् १९२६ की जनवरी में कताई की अच्छी रीतियों के ध्यान-पूर्वक परिशीलन से एक ही सप्ताह में सदस्यों द्वारा कते सूत की औसत मात्रा सैकड़ा पीछे दस के लगभग बढ़ गई। और कताई के वेग में तो प्राय: सभी केन्द्रों में बढ़न्ती हुई है।

खद्दर की अच्छाई के सुधार से खद्दर से मिल के कपड़ों की होड़ में किस तरह कमी आ सकती है इस प्रश्न पर नवें अध्याय में विचार किया गया है।

अब तक होड़ में मिल के कपड़े को जो लाभ रहा है उसमें कमी कर देने वाले कई साधन हैं।

पहली बात तो यह है कि यदि कपड़ा इसी लिए तैयार

होता है कि जिस देश में बन रहा है उसी देश में खर्च भी हो, जैसे खद्दर, तब तो यह कोई जरूरी बात नहीं है। कि माल उसी तेजी से तैयार हो जितनी तेजी से कि विदेशी खुले बाजारों में बिकने के लिए तैयार किया जाता है। यह बात वहाँ और भी ठीक उतरती है जहाँ कपड़ा केवल परिवार के काम के लिए या अपने गाँव के ही निवासियों के काम के लिए तैयार किया जाता है। निश्चय ही खद्दर-आन्दोलन का तो उद्देश्य ही यह है कि अपने परिवार के ही काम के लिए खद्दर तय्यार करे, और बच जायें तभी उसको बेचें।

भारत की आबादी सैकड़ा पीछे नव्वे गांवों में ही बसी हुई है। ग्राम-संगठन की जो ही योजना हो वह इतनी भारी आबादी के लिए होगी जिसमें माल की तय्यारी और उसका बँट जाना या खर्च दोनों वहीं का वहीं होगा। अर्थात् जिस गाँव में माल तैयार हो उसी में खपे भी। यह कारबार प्रायः बहुत छोटे पैमाने पर होगा। कपड़े की मिल के बाजार की अपेक्षा गांव के बुनकार का बाजार अत्यन्त छोटा होगा। उसके माल की तय्यारी मिल की तरह बड़ी मात्रा में होगी तो वह ऐसे बाजार में किसी तरह अपना सारा माल नहीं बेंच सकेगा। साथ ही उसे बेकार बैठना भी न चाहिए। मतलब यह है, कि हाथ की बुनाई से जितना माल तैयार होता है उतने के ही खपाने के लिए गांव का बाजार सबसे अधिक उपयुक्त है और तैयार करनेवाला यही चाहता भी है।* हाथ-कताई में भी यही बात है चाहे उसमें अपने ही पहनने

*Cf. R. Austin Freeman, Social Decay and Regeneration Constable London, 1921.

को सूत काता जाय और चाहे बेच भी डाला जाय। बेचने के लिए चरखे की कताई की योग्यता अगर बहुत बढ़ जाती तो बड़ी मदद मिलती, परन्तु इसमें भी अत्यधिक सूत की तय्यारी शायद लाभ के बदले हानिकर ही हो।

जैसा गांधी जी कहते हैं, इस विषय में घर की रसोई से मिलान करना चाहिए। इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि पच्छाहीं रीति से बना हुआ रोटी का कारखाना प्रति मनुष्य घंटा पीछे जितनी रोटियां तैयार कर सकेगा, उतना भला कोई अपने घर रसोई में क्या बनवा सकेगा? कारखाने में जितना मुरब्बा अचार इकट्ठा तैयार हो सकता है, घर-गिरस्ती में कहाँ संभव है? घर का रसोइया उतना खाना नहीं पका सकता जितना कि होटल वाला इकट्ठा तैयार करता है। परन्तु घर की रसोई खाने वालों के अंदाज़ से बनती है, उनकी जरूरत और पसन्द के अनुसार बनती है। इसी लिए यद्यपि नानबाइयों के कारखाने होटल और हलवाइयों की दूकानें बहुत हैं और शहरों में इनकी जरूरत है भी, परन्तु यह कहना कभी उचित न होगा कि गांव घर की रसोई से इन सबकी होड़ है, विशेषतः भारतवर्ष में जहां यह सब साथ ही मौजूद हैं।

या, घर के बगीचे फल और तरकारी की उपज की ही बात लीजिए, इनको घर के ही काम के लिए तरकारी चटनी अचार मुरब्बे बनाने के काम में लाते हैं या अपने गाँव या पड़ोस के गाँव में बिक्री के लिए भी उपजा सकते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारी भारी व्यापारी बगीचों में या कारखानों में इन्हें टीनों में बन्द करके रखने या मुरब्बे अचार आदि बनाने का

काम बहुत बड़े पैमाने पर बहुत सस्ते में बहुत जल्दी और एक ही आकार-प्रकार में कर सकते हैं और करते हैं। तो भी छोटे पैमाने पर काम करने वाले करते ही हैं। स्थानीय माल तैयार होता है और बिक जाता है; क्योंकि यह माल इसको खपाने वाली जनता के एक अंश की आवश्यकता और पसन्द के अनुसार उसी मात्रा में बनता है जिस मात्रा में वह चाहते हैं। दोनों प्रकार के व्यवसायों में वस्तुतः कोई होड़ नहीं है। दोनों के दोनों व्यवसाय पास ही पास रहते हैं, और परस्पर की कमी को पूरा करते हैं। इसी तरह किसी हद तक खद्दर और मिल के कपड़े की भी दशा है।

खद्दर और मिल के कपड़े की होड़ में कीमत जो एक हेतु है, उसका महत्व एक दूसरे कारण से घट सकता है। ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर अमेरिका और ब्रिटेन के सिनेमा फिल्मों की जो दशा है, वैसी ही इसकी भी है। ब्रिटेन के फिल्म बनाने और ब्रिटेन की "खर्च" करने वाली जनता का एक कर्म्मशील अंश अनेक कारणों से अमेरिका के फिल्मों को नापसन्द करते हैं और निकाल बाहर करना चाहते हैं। यह बात स्पष्ट नहीं है कि ब्रिटिश फिल्म ज्यादा सस्ते हैं। परन्तु यह बहुत संभव है कि जनता का भाव ब्रिटेन के फिल्मों के पक्ष में इतने पर्य्याप्त रूप से दृढ़ किया जा सके कि अमेरिका के फिल्मों का प्रायः महा-ब्रिटेन के अन्दर आना ही बन्द हो जाय।

मतलब यह है कि इस बात का अन्दाजा करने के लिए कि कैसा माल बाजार में खप सकेगा, कीमत की दर ही अकेली कसौटी नहीं है। कीमत के सस्तेपन का प्रायः उस समय ध्यान

नहीं दिया जाता जब, मनोभाव, पसन्द, परम्परा की पद्धति, रीति-रवाज, या फैशन का ख्याल मन में ज्यादा रहता है। अभी तो हम यह नहीं कह सकते कि भारत के कपड़े के बाजार में खद्दर के पक्ष में इस प्रकार के मनोभावों का प्रभाव अधिक पड़ेगा, या नहीं, परन्तु यह असंभव नहीं है और व्यावहारिक सम्पत्ति शास्त्र के अन्तर्गत है।*

यंत्र-बल से चलने वाली कलों से जितना माल तैयार होता है अगर हाथ के औजार कितने ही सुधारों पर भी उतना नहीं तैयार कर सकते, तो भी छोटे पैमाने पर के रोजगार में अनेक भांति से खरचे में कमी हो जाती है; क्योंकि माल जहाँ जितना खपता है वहां उतना ही तैयार किया जाता है। दूर देशों से कच्चा माल संग्रह करने और दूर देशों में तैयार माल को फैलाने के लिए फिर ढोये जाने में भांति-भांति के रूप में खरच बढ़ता है। एशिया में छोटे पैमाने पर प्राचीनकाल से माल की तैयारी और खपत की विधि के कारण ही कम खर्च में जीवन बिताया जा सकता है। खद्दर के कार्य्यक्रम में इन बचतों से इतना अधिक लाभ उठाया जायगा जितना कि किसी किफायती व्यवसाय में हो सकता है। इन बचतों के प्रकार और विस्तार पर छठे अध्याय में विचार किया जायगा। सुधार के बाद भी हाथ के

---

* कपड़े के सम्बन्ध में ही श्री अमलसाद की पुस्तक से पहले जो अवतरण दिये जा चुके हैं, प्रमाण-स्वरूप पाठक उन्हें पढ़ें। उनकी पुस्तक में इसके अनेक उदाहरण हैं। देखो D. M. Amalsad. Handloom weaving in Madras Presidency, 1925, Superintendent, Government Press, Madras.

औजारों से कम माल तैयार कर सकने की जो कुछ शिकायत रह जायगी, अचरज नहीं कि इन बचतों के लाभ से बहुत-कुछ मिट जायं।

हम यह कह सकते हैं कि बल-यंत्रों की अधिक योग्यता उनके वेग में, उनके माल की एकाकारता में, और ठीक ठीक जैसा चाहिए वैसा माल तैयार होने में है; परन्तु वर्त्तमान-काल में पूंजीवाद से उनका संबन्ध होने से उनमें हरएक मद में बढ़े हुए खर्च से, उनमें नगर की आबादी बढ़ाने की प्रवृत्ति से, और प्रत्यक्ष ही अनिवार्य्य फल बेकारी से, उनमें अयोग्यता भी है। इस समय अमेरिका इनमें से दो अयोग्यताओं से बच रहा है। कुछ तो ऊँची मजूरी देकर लोगों की खर्च करने वाली ताकत बढ़ा रहा है, और कुछ इसलिए कि वह यंत्र-बल को बराबर दृढ़ता से बढ़ाता जा रहा है। यह इसीलिए संभव है कि अभी तक ईंधन का भाव वहां चढ़ने नहीं लगा है। वर्त्तमान-काल में और राष्ट्रों को इन कठिनाइयों से बचने के लिए यह दो मार्ग या तो मिलेंगे ही नहीं या मिल नहीं सकते।

अब हम होड़ की कीमत के कुछ अंगों पर विचार करेंगे।

पहले तो जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं मनुष्यों के एक बड़े और बढ़ते हुए समुदाय के लिए उनकी स्थिति और काम के कारण खद्दर का खर्च मिल के कपड़े से निश्चय ही कम है।

दूसरे, यह बात स्पष्ट मालूम होती है कि खद्दर की कीमत घटने की ओर प्रवृत्त रहेगी, और मिल के कपड़े की कीमत बढ़ने की ओर प्रवृत्त रहेगी, या कम से कम मिल के कपड़ों की अपेक्षा

खद्दर की कीमत जल्दी जल्दी घटेगी।※ इसके कारण कई हैं। हाथ के औजारों से माल की अच्छाई और मात्रा में बढ़न्ती हो जाने की निकट भविष्य में अत्यधिक संभावनायें हैं। बल के यंत्रों में ऐसी संभावनायें बहुत कम हैं। इस तरह के किसी सुधार से खद्दर का भाव घटेगा और बाजार में खद्दर की मात्रा बढ़ेगी, क्योंकि अधिक कातने और बुनने वाले काम में लग जायँगे। घरेलू व्यवसायों में मजूरी की दर कम होती है और कपड़े की मिलों के वेग से नहीं बढ़ती। सारा परिवार काम करने वाले की सहायता करता है।

इसके सिवा, सभी पच्छाहीं राष्ट्रों में व्यवसाय और ढुलाई की भारी मांगों के कारण, सुभीते से जितना तेल और कोयला मिल सकता है सब की भारी खींच है। इस तरह ईंधन का खर्च बढ़ता जा रहा है। इस बात में अमेरिका के संयुक्त-राज्य अपवाद हैं। † "खान से कोयला और तेल निकालने के खर्च का

※ गज़ पीछे दर में खद्दर की कीमत इस प्रकार घट गई है—आंध्र में ३६" के खद्दर का दाम सन् १९२२ में ॥) था। सन् १९२६ में ।=) हो गया। बंगाल में ४ गज़ × ४४" के कपड़े का दाम सन् १९२२ में २॥।) था। सन् १९२६ में २) हो गया। पंजाब में २७" के खद्दर का दाम १९२३ में ।=)॥। था। १९२६ में ।-)। हो गया, तमिल-नाड में ५०" का १९२२ में ॥।-) था। १९२६ में ॥-)॥। हो गया। अखिल-भारतीय चरखा संघ की सन् १९२५-२६ की रिपोर्ट देखिए। सन् १९२७ की खादी गाइड में और भी घटे भाव दिये हैं। यह भी अखिल भारतीय चरखा संघ अहमदाबाद से प्रकाशित हुई है।

† *Mineral Resources for Future Populations,*

बढ़ता जाना निश्चय है। खानों के चुक जाने का डर उसकी अपेक्षा कम है। खान के सब तरह के उद्योग में खर्च का अधिक से अधिक बढ़ता जाना अन्तिम अनिवार्य्य परिणाम है।"...... "यह बात भी बिलकुल स्पष्ट ही है कि खानों के बिलकुल खाली हो जाने के दिन कितने ही दूर लगें, परन्तु खान के अनेक विभागों के खर्च के बढ़ने के दिन तो दूर नहीं हैं।......साक्षी से प्रकट होता है कि युरोप बढ़ते हुए खर्चों की सीमा को यदि पार नहीं कर गया है तो उसके पास तो बहुत जल्दी ही पहुँचा चाहता है।*" सन् १८८३ ई० से इंग्लिस्तान और वेल्स में कोयले की उपज तो कुछ बरसों से स्थिर सी रही है।† शायद जापान और महा-ब्रिटेन के ईंधन के खर्च का मिलान और मुकाबला किया जाय तो इस बात का भी पता लग जाय कि बाजार में ब्रिटिश माल की जगह जापानी माल क्यों ले सका है। अमेरिका के प्रसिद्ध हवागाड़ी बनाने वाले फोर्ड का कहना है, और ठीक ही है, कि आजकल का व्यवसाय "बल" और "ढुलाई" के खर्च के

---

by F. G. Tryon and L. Mann, of Division of Mineral Resources, U. S. Geological Survey, being Chapter VIII of *Population Problems*, edited by L. J. Dublin, Houghton Mifflin and Co; Boston (U. S. A.) 1926; pp. 131 to 137, 118, 119.

* *Mineral Resources for Future Populations*, &c. Ibid.

† Ibid, p. 135.

ही काबू में है।‡ या, संक्षेप से हम यों सकते हैं कि "ईंधन का खर्च घटने से हाथ की जगह कल ले लेती है। ईंधन का खर्च बढ़ने से कल की जगह हाथ ले लेता है।"$

एक और हेतु है जो मिल के कपड़े की होड़ को घटाने में सहायक होता है। भारत के देहातियों की खरीदने की ताकत बहुत घटी हुई है। प्रोफेसर वारेन एस. थाम्पसन ने जून, सन् १९२६ के अंक में लंडन के "Economic Journal"—सम्पत्ति शास्त्र—के पत्र में "ब्रिटेन की आबादी की समस्या" नाम के लेख में इस बात को स्पष्ट-रूप से प्रकट किया है। पृ० १८२ पर वह भारतवर्ष की चर्चा में यों कहते हैं—

"पिछले कई वर्षों में खेती-बारी करने वालों की आबादी पहले की अपेक्षा कुछ बढ़ी-सी जान पड़ती है। देखने में यद्यपि यह बात उलटी-सी लगती है, तो भी निश्चय ही खेती के काम करने वालों की संख्या में इस बढ़ती का कारण यंत्र-बल के उद्योग-व्यवसाय की बढ़ती ही है। कारखानों में जिस ढंग पर माल तैयार होता है, उससे गाँव के वह लोग जो खेती नहीं करते थे, बेकार हो जाते हैं। तब उनके लिए दो ही मार्ग रह जाते हैं—या तो वह भूखों मरें, या वह झखमारे खेतों पर काम करें। उनके जीते रहने की तीसरी कोई सूरत नहीं है। जो लोग हाथ से वस्तुयें बनाते थे वह सब लोग मिलकर उतनी ही बनाते थे

‡ *To-day and To-morrow*, Heinemann, London, 1926, p. 110.

$ *Population Problems*, Chapter VII, above cited, p.125.

जितनी लोगों को चाहिए थीं, तभी बनाकर देते थे जब लोगों को जरूरत होती थी। यन्त्र-बल से माल जल्दी तैयार होने लगा और ज्यादा मात्रा में बनने लगा, और दरिद्रता और रस्म-रिवाज दोनों के कारण लोग उतना खपा नहीं सकते। इसका यह परिणाम अधिक संभाव्य दीखता है कि शायद कल-बल के उद्योग-व्यवसाय के, भारतवर्ष में बराबर बढ़ते रहने से कुछ दिनों में खेती में परिश्रम करने वालों की संख्या भी साथ ही साथ बढ़ती रहेगी। इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि भारत-वर्ष में आजकल के कल-कारखानों से माल की उपज बढ़ती जा रही है, यद्यपि कनाडा या आस्ट्रेलिया से मिलान करने पर भारत में उसकी बढ़ती का वेग उन देशों की अपेक्षा कम जँचेगा। जितनी तरह के कल-कारखाने भारत में हैं, वह सभी साधारण पूँजी-वाद के सिद्धान्त पर चलाये जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि वह काम करने वालों की खपाने की ताकत बढ़ाने में किसी प्रकार की सहायता नहीं करते। इसके सिवा वह एक भयानक बेकारी की समस्या ऊपर से उठा देते हैं, जिससे कि बेकारों की खपाने वाली ताकत घट जाती है। इसके सिवा वह अधिक लोगों को खेती बारी की ओर ढकेल देते हैं, इस तरह किसानों की आबादी में आदमी पीछे खपत की ताकत घट जाती है। और यह आबादी है भी भारत की कुल आबादी की लगभग तीन चौथाई जो आबादी खेती-बारी में लगी है, उसमें सचमुच थोड़ी-सी भी बढ़ती हो जाय तो शायद आदमी पीछे सम्पत्ति पैदा करने की ताकत इतनी घट जायगी कि विदेशी माल का इस देश में आना बढ़ेगा नहीं बल्कि घट जायगा। हमें यह भी अच्छी तरह

समझ लेना चाहिए कि विदेशों से आने वाले माल को खपाने की भारतवर्ष की ताकत बहुत कम है। साधारण तौर से सिर पीछे साल भर में चार डालर (पौने ग्यारह रुपये) से कम ही पड़ता है। और खेती पर ज़रा भी बढ़ी हुई आबादी का दबाव पड़ा कि यह थोड़ी ताकत भी घट जायगी। भारतवर्ष की इस साधारण स्थिति पर विचार करते हैं तो ऐसा दीखता है कि पिछले कई वर्षों में जो घटी हो गई है वह सचमुच स्थायी प्रकार की नहीं है, तो कम से कम निकट भविष्य में तो ऐसी कोई आशा नहीं है कि विदेशों से माल का आयात कुछ हद तक अधिक बढ़ सके।"

इस तरह भारत की ख़रीद करने की गिरी हुई ताकत एक तरह से विदेशी कपड़ों का आयात घटाने के लिए रोकने वाले कर का काम देती है।

इस सम्बन्ध में हमें यह भी याद रखना चाहिए कि मिल के कपड़े की तय्यारी का खर्च जितना सन् १९१४ में था सन् १९२४ में उसका दूना हो गया।*

सचमुच मालूम तो ऐसा हो रहा है कि मानों खद्दर के मुकाबले में विदेशी कपड़ों की होड़ को दे मारने के लिए, भारत की खरीदने की गिरी हुई ताकत और भारी बेकारी जापानी युयुत्सु नामक पेंच का काम कर रही है। भारतवर्ष की माल उप-

---

* *Young India*, October 28, 1926, p. 398, Also Memo on Cotton for International Ec. Conference, Geneva 1927, above cited pp. 28-32.

जाने की कमी या कमजोरी ही धीरे धीरे मिल के कपड़े का बहिष्कार कराने में सहायक हो सकती है।

छोटे पैमाने पर जगह जगह खद्दर की तय्यारी से और अभी जो मिल के कपड़े की अपेक्षा खद्दर पर तय्यारी में ज्यादा खर्च करना पड़ता है, उसके घटते जाने से, तरह तरह से किफायत हो सकती है। इन बातों पर विचार करने से जान पड़ता है कि खद्दर की यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे किसी कारखाने में एक नयी बड़ी मशीन खड़ी करने के आरंभिक भारी खर्च की होती है। एक बार जब वह मजे में चल निकलती है, तो उसकी उपज की बढ़ती हुई योग्यता से खर्च में बहुत किफायत हो जाती है। लेकिन अगर मशीन खड़ी करने का सारा आरम्भिक खर्च उसकी पहली ही उपज से वसूल करना हो और आगे आने वाले बहुत काल तक की उपज पर उस खर्च को फैलाना न हो, तो पहले पहल यही मालूम होगा कि मशीन खड़ा करना बड़ी भूल की बात हुई। इसलिए ऐसा जान पड़ता है कि आज-कल खद्दर की जो बढ़ी हुई कीमत है वह शायद शुरू के सङ्गठन और विकास के कारण ही अधिकांश में है और जहाँ एक बार यह कठिनाइयाँ सुलझ गई फिर तो देखने लायक बचत होने लगेगी और मिल के कपड़े से मिलान करने पर दाम बहुत घट जायगा।

इस स्थिति में एक बात और है जिस पर और किसी जगह पर बहुत थोड़ा खयाल किया जाता है। वह यह कि आज-कल भारी पूँजी लगाकर मशीन का जो व्यवसाय खड़ा करते हैं वह बराबर प्रसार और विकास से ही सुरक्षित और सफल हो सकता है। वह स्थिर-रूप से सफलता-पूर्वक नहीं चल सकता।

अगर इसका कारबार बराबर बढ़ता न रहे तो यह भारी बढ़ते हुए खर्च; साहूकारों के सङ्कट, उपज में रुकावट, बेकारी और इसी तरह की और आर्थिक कठिनाइयों के झकोड़ों में पड़ जाता है * अथवा यों कहिए कि उसकी रक्षा और सफलता के लिए ईंधन के बल का बराबर बढ़ता हुआ उपयोग हुए बिना मशीन का व्यवसाय चल नहीं सकता।

अब देखिए, कि सारे यूरोप में ईंधन का दाम बढ़ता जा रहा है और जान पड़ता है कि सम्भवतः महाब्रिटेन और दूसरे यूरोपीय देशों से कपड़े का आयात धीरे धीरे घटता जाता है! जापान में भी मजूरी के बढ़ने के लिए बहुत दबाव पड़ रहा है और कई तरह की भीतरी आर्थिक और सामाजिक कठिनाइयाँ हैं जिनके कारण जापानी माल के आयात के बढ़ने में भी कुछ शक मालूम होता है। यह सम्भव है कि जो कपड़े की मिलें यहाँ भारतीयों की हैं उनके बहुत ज्यादा फैलने में ब्रिटेन बाधा डाले; क्योंकि भारत पर उसका भारी राजनैतिक और आर्थिक दबाव है। और बहुत सम्भव है कि आगे कुछ वर्षों तक अमेरिका के संयुक्त-राज्य भी भारतीय बाजार में अपने यहाँ का बना बहुत-सा कपड़ा न लावेंगे; क्योंकि वे अपने ही लोगों की और दक्षिण अमेरिका और चीन के बाजारों के खपाने की ताकत को बढ़ाने में लगे हैं।

सन् १९२३ और २४ से अब तक महाब्रिटेन से भारत में

---

* W. T. Foster and W. Catchings, "The Automobile, Key to Our Prosperity," in *The World's Work* (New York) for December, 1926.

सूती माल के आने में जो वास्तविक घटी हुई है वह तो उस जगद्व्यापी घटी का एक अंश है जो आम तौर से सूती माल में संसार भर में हो गई है। सभी देश अपने लिए अपना कपड़ा आप ही तैयार करने की कोशिश में हैं। भारतवर्ष कोई अपवाद नहीं है।

यह केवल इस बात का परिणाम नहीं है कि देश देश में कल-बल का प्रचार बराबर बढ़ रहा है। इसका मतलब यह है कि सभी देश बल को अधिकाधिक काम में लाने के विचार से अपने से पहले के बल-व्यवसायी देशों की नकल कर रहे हैं। वह बल चाहे ईंधन का हो, चाहे जल का हो और चाहे मनुष्य का हो, और उसे भरसक किफायत से काम में लाते हैं, अर्थात् उस से अधिक से अधिक काम लेते हैं। भारतवर्ष न केवल अधिक ईंधन और जल का बल काम में लाता है बल्कि अधिक मनुष्य बल भी लगाता है, जिसमें अंशतः चर्खे और कर्घे का काम भी शामिल है। महासमर के पहले की अपेक्षा चर्खों और कर्घों दोनों में जो बराबर वृद्धि होती आई है उससे प्रकट होता है कि हाथ के औजार अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से पर्याप्त रूप से काम काजी हैं।

स्वीजरलैंड की राजधानी जेनेवा में सन् १९२७ ईसवी की मई के महीने में राष्ट्र-महासंघ की ओर से सम्पत्ति-शास्त्र-सम्बन्धी एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ था। उस सम्मेलन के लिए रूई पर जो रिपोर्ट ❋ लिखी गई थी उसके पढ़ने से भी यही मालूम होता है कि पूर्वोक्त प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में अभी जो कुछ

❋ Constable & Co. London.

हमने वर्णन किया है वह सब ठीक है। इस सम्बन्ध में इस रिपोर्ट में जो अङ्क दिये गये हैं वह मिल के तैयार किये हुए हैं। उसमें थोड़े से अवतरण यहाँ दे देना काफी होगा।

"(पृष्ठ ५ और ६) युद्ध के पहले की मात्राओं से मिलान करके रुई की खपत के बारे में कहते हैं—"यह कूता जाता है कि भारतवर्ष में जहाँ साढ़े बत्तीस करोड़ की आबादी है सैकड़ा पीछे सात तक घटी हो सकती है.............यद्यपि संसार की खपत में घटी नहीं है तथापि विशेष रूप से संसार का सूत का रोजगार गिर गया है और जब कि पिछले पचास वर्ष तक सूती माल के विशेष यूरोपीय रोजगार में अधिकांश के लिए महाब्रिटेन ही जिम्मेदार रहा है तभी तो इस परिवर्तन का कुफल सब से अधिक लंकाशहर के व्यवसाय को भोगना पड़ा है। इसके विरुद्ध सूत के रोजगार के घटने से भारतवर्ष पर विशेष प्रभाव पड़ा और अब वहाँ पुतली-घरों के सूत से बुनाई का काम इतना होने लगा कि ब्रिटेन के थानों की मांग कम हो गई। महा-समर के समय और उसके बाद भी एक दूसरे कपड़े के भारी बाजार में, अर्थात् चीन में, भाव के अत्यन्त चढ़ जाने से वहाँ की कपड़े की माँग वहीं पूरी की जाने लगी। संसार के सारे व्यापार में कमी आने के साथ साथ बाहर माल भेजने वाले अनेक देशों की स्थिति में भी भेद पड़ गया। जहाँ महाब्रिटेन, पोलैंड और जर्मनी अपने अपने बाजारों का एक अंश खो बैठे, वहाँ अमेरिका के संयुक्त-राज्यों ने, चीन ने और जापान ने लाभ उठाया है।

"इनमें से अनेक परिवर्तनों का प्रभाव तो महासमर के पहले मालूम होने लग गया था। युद्ध के समय इनके वेग में बढ़ती

होती रही और इनमें से कुछ तो सदा के लिए टिक गये से जान पड़ते हैं। महासमर के समय में जिन देशों में यूरोप से माल पहुँचने में कठिनाई हुई और उनकी माँगें पूरी नहीं होती थीं, उन देशों ने अपनी सामग्री ठीक करली और बढ़ाली और अपना माल आप तैयार करने लगे या जापान और संयुक्त राज्यों से ज्यादा माल खरीदने लगे........"

"महाब्रिटेन के लिए तो व्यापार के गिर जाने से समस्या बड़ी जटिल हो गई है। जो हो; पिछले चार वर्षों में तो फरक बहुत कम पड़ा है। लंकाशहर जिस समस्या में आज उलझा हुआ है वह यह है कि जिस व्यवसाय में बहुत भारी पूंजी गल चुकी है उसे थोड़ी उपज के लिए कैसे उपयुक्त बनाया जाय और साथ ही बाहर माल भेजने के व्यापार को किस तरह चलाया जाय ? क्योंकि यह व्यापार तभी चल सकता है जब दुनिया के बाजारों में उन नये व्यवसायों से बाजी मार ले जाय, जिनमें कि पूर्वी देशों की सस्ती मजूरी से लाभ उठाया जाता है। विशेष रूप से यह व्यापारी होड़ आयात वाले बाजार के भीतर ही भीतर चलने वाले व्यवसायों से होती है।"

"(पृष्ठ १७) अङ्क ....जो भारतीय थानों के सम्बन्ध में दिये गये हैं वह केवल मिलों के हैं। हाथ के करघे भी मिल का सूत खर्च करते हैं। यह खपत बराबर बढ़ती गई है...सन् १९२४-२५ में भारतवर्ष में जितना कपड़ा खपा था वह चार अरब तिरानवे करोड़ गजों तक आँका जाता है। भारतीय मिलों से सैकड़ा पीछे साढ़े छत्तीस खर्च हुआ है और बाहर से आया

हुआ माल सैकड़ा पीछे साढ़े पैंतीस है और हाथ के करघों पर से उतारा हुआ माल सैकड़ा पीछे अट्ठाइस है।"

इस रिपोर्ट में इतने अंश के बाद प्रोफेसर डानीयल की वह कूत दी गई है जो उन्होंने भारत में सूती कपड़े की खपत के बारे में ठहराई है। इसमें उन्होंने सन् १९१० से लेकर सन् १९१४ तक के चार वर्षों में यह अन्दाज़ा लगाया है कि हाथ के करघे से बुने कपड़े एक अरब पाँच करोड़ साठ लाख तैयार हुए और सन् १९२२ से १९२६ तक एक अरब बाईस करोड़ साठ लाख गज़ कपड़ा तैयार हुआ। इन पिछले दो वर्षों में जो चार अरब बत्तीस करोड़ अस्सी लाख गज कपड़े ख़र्च हुए उनमें से हाथ के करघे से बुने हुए कपड़े सैकड़ा पीछे २८·४ भाग थे।

(पृष्ठ ३०) "रुई की खपत में सूत और कपड़े की तैयारी में यूरोप के निर्यात करने वाले देशों से बदल कर लाभ का पलड़ा जो एशिया के भारी खपाने वाले बाजारों में झुक गया, उसी के साथ ही साथ संसार भर के सूती माल के व्यापार में भी कमी आ गई।"

(पृष्ठ ३२)......"सन् १९०९ से लेकर सन् १९१३ तक जितना सूत और जितना कपड़ा महाब्रिटेन साल पीछे बाहर भेजता था, सन् १९२३ से लेकर सन् १९२५ तक में उसने प्रतिवर्ष चौबीस प्रतिशत कम सूत और ३१ प्रतिशत कम कपड़ा बाहर के देशों में भेजा। तौ भी महाब्रिटेन संसार में तैयार माल को विदेश भेजने वालों में सब से बढ़ा चढ़ा है और जो कुछ उसकी बिक्री में कमी आई है, वह सस्ते प्रकार के माल में; क्योंकि उसने विशेष-रूप से एशिया के बाजार खोये हैं। इसीलिए

आमदनी उतनी नहीं घटी है, जितनी कि खपने वाले माल की मात्रा में कमी आई है। इसके सिवा और बाजारों में भी सस्ते तरह के माल के खपने में ही कमी आई है।"

आगे चल कर रिपोर्ट से यह प्रकट होता है कि महाब्रिटेन से सूती कपड़े जो कुछ बाहर भेजे गये सब में से जहाँ सैकड़ा पीछे ६१.६ सन् १९१३ में दूरवर्ती पूर्व ने खरीदा वहाँ सन् १९२५ में केवल सैकड़ा पीछे ४१.८ ही मोल लिया।

जितनी बातें कही गई हैं उन सब पर विचार करके यह मान लेना युक्ति-संगत जँचता है कि खद्दर के विरुद्ध होड़ धीरे-धीरे घटती ही जायगी।*

अगर यह कहा जाय कि, अभी तक जो विचार किया गया है, उसमें यह ऐतिहासिक बात नहीं मानी गई है कि आज कल के कल-बल-व्यवसाय ने ही प्राय: कपड़ा बनाने की भारतीय पुरानी-कारीगरी को एकदम नष्ट कर दिया, तो इसका उत्तर सीधे यही है कि, वह ऐतिहासिक बात ही नहीं है। भारतवर्ष की हाथ से बुनने की कला कभी पूर्ण-तया नष्ट हुई ही नहीं। और जिस हद तक यह नष्ट भी हुई, उस हद तक उसका विनाश आदि में मिल-मशीनों की अधिक योग्यता के कारण नहीं हुई। उसके विनाश के लिए ब्रिटेन ने बाधक कर लगाये और निर्दय क़ानून बनाये और साम्पत्तिक और अत्याचारी दबाव डालकर ध्वंसक संगठन करके

*Cf. P. P. Pillai, *Economic Conditions in India*. Routledge, London, 1925, pp. 136-157. Also V. G. Kale, *Indian Economics*, 1924, ed., Aryabhushan Press, Poona City. p.p. 152, 153.

भारतीय कारीगरी और भारत के व्यापार का गला घोंटा गया। तीसरे अध्याय में दिये हुए अंकों से हमने यह समझ ही लिया है कि, भारतीय चर्खे का तकुआ आज प्रायः वैसी ही योग्यता रखता है, जैसे मिल के तकुए की पचहत्तर वर्ष पहले थी। और भारतीय कारीगरों की उत्तम कला के कारण और उनके बनाये भारतीय कपड़ों की बारीकी, सौन्दर्य और टिकाऊपन के कारण सन् १८१३–१४ तक इंग्लिस्तान और यूरोप में उनकी भारी बिक्री का बीमा सा था। उसी साल इंग्लिस्तान में जाने वाले भारतीय कपड़ों पर बहुत भारी बाधक-कर लगाये गये। यह घटना खटक-ढरकी, बुनने की कल, अंजन और बल-करघे के आविष्कार के चालीस-पचास वर्ष बाद हुई है। भारत के कपड़े की कारीगरी और व्यापार के नष्ट हो जाने से, ब्रिटेन के बुनकारों में जो बेकारी से असन्तोष फैला हुआ था, वह नष्ट हो गया और ब्रिटेन को कच्चा-माल और अनाज भारत से मँगवाना पड़ता था और उसके लिए सोने-चाँदी के सिक्के देने पड़ते थे, अब सुभीते के साथ सूती माल दिया जाने लगा। इस मामले में भारतीय पक्ष पर पूरे तौर पर विचार नहीं किया गया है। परन्तु यह इतिहास-ग्रन्थ नहीं है। इसलिए जिन पाठकों को देखने की इच्छा हो, वह ऐतिहासिक कागज-पत्र देखें। ❀

❀(1) See P. J. Thomas,-*Merchantlism and the East India Trade*, P. S. King & Son London, 1926. W. H. Moreland,—*Akbar to Aurangzeb* Macmillian London, 1921, pp. 58-62. Balkrishna,—*Commercial Relations between India and England*, 1601-1757.

भारतीय कपड़े की कारीगरी के इस सु-संगठित विनाश की चर्चा जो हमने की है, उसमें हमारा विचार कोई नैतिक निन्दा करने का नहीं है। कड़े नैतिक-विशेषण बहुत कम उपयोगी होते हैं। चाहे इंग्लिस्तान में हों, चाहे भारत में, सभी ब्रिटिश लोग बल्कि सभी पच्छाहीं उस समय और अब भी व्यापारी, व्यवसायी और लेन-देन की पद्धति के जाल में बेतरह फँसकर अन्धे हो गये थे और हैं और अब कहीं उन झंझटों को और दुष्परि-

---

Routledge London, 1924. W, Foster.—*The East India House*, John Lane, London 1924, Dutt.:*Econmic History of India*. 5th ed., Kegan Paul, London pp. 261-290. Wilson's *History of British India* Bk. I, Chapter VIII. Lord Wellesly's Letter of 1804, quoted in R. Richard's *India*, London, 1829, Vol. I p. 84 Note. F. List—*The National System of Political Economy*, 1844, trans, by S. S. Loyd London, 1885 p. 42. Baines,—*History of Cotton Manufacture*, London. Hausard's Debats. 1813; Original records of the East India Company. Record of Hearings before Parliamentary Committee's in 1813 and earlier years.

इनमें से कई के संक्षिप्त अवतरण "हाथ की कताई-बुनाई" (सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर) नामक पुस्तक में दिये गये हैं। 'यंग इंडिया' में भी १९२७ में "दूकानदार से हाकिम हो गये" नाम की लेखमाला में भी संक्षिप्त अवतरण हैं। इसके पाँचवें अध्याय की लम्बी टिप्पणी में भी कई अफसरों और ऐतिहासिकों से उद्धरण हैं।

णामों को ठीक-ठीक समझ जाने की कोशिश कर रहे हैं, जिनमें वह आप फँसे और दूसरों को भी फँसाया। तोभी, इस अज्ञान से कठिनाइयाँ न घटीं और न घटती हैं और न यह अज्ञान कोई ऐसा हेतु है कि, जो आर्थिक भूलें तब की गईं, उनके सुधार की अब तुरन्त ही कोशिश न की जाय।

पांचवां अध्याय

खरीदने का बढ़ा हुआ बल

यदि भारतवर्ष चाहे कि हमारी साम्पत्तिक अवस्था बढ़े, तो क्या वह उन आर्थिक—ढंगों का प्रयोग कर सकता है, जिनके बल से अमेरिका के संयुक्त-राज्य आज संसार में सब से समृद्ध राष्ट्र हो गये हैं ? इस में सन्देह नहीं कि, वे चुने हुए ढंग होंगे, जिनमें देश-काल के अनुसार कुछ परिवर्त्तन भी किये जायँगे।

अब हम कुछ उन चुने ढंगों पर विचार करेंगे। ऊपर जिस ब्रिटिश पुनः संगठन-समिति की रिपोर्ट की चर्चा की गई है उस में* लिखा है—

"यह तो स्पष्ट है कि देश की समृद्धि का बढ़ाना,—अर्थात् व्यक्ति के खरीदने की औसत ताकत को बढ़ाना,—इस बात पर अवलम्बित है कि, सिर पीछे माल की तैयारी बढ़ जाय। घर के बाजार में माल की बिक्री का दाम बढ़ा कर ही अगर मजूरी बढ़ाई गई, तो यह कोई उन्नति नहीं हुई, और संसार के तटस्थ और खुले बाजारों में तो माल की बिक्री का दाम बढ़ाना अन्तर्राष्ट्रीय होड़ के कारण असम्भव ही है। समृद्धि बढ़ाने का बस एक ही उपाय है कि, जितने मजूर काम में लगे हों, सिर पीछे उतनी ही माल की तैयारी बढ़ जाय।.....संयुक्त राज्यों में

---

* ऊपर पृ० २७ देखो।

मंजूर पीछे बल की जितनी मात्रा काम में आ रही है, वह ब्रिटेन में काम में आने वाली मात्रा से सैकड़ा पीछे ५६ अधिक है। अगर हम उन कारखारों के मजूरों को अपने हिसाब से निकाल दें, जिनमें यंत्र-बल का या तो कम काम लगता है, या लगना असम्भव है, तो हमें मालूम होगा कि, जहां कहीं यंत्र-बल लग सकता है, वहीं का मुकाबला करने में यहाँ की अपेक्षा संयुक्त-राज्यों में यंत्रबल दूना लगता है। इसके विपरीत संयुक्त-राज्यों में न केवल मजूरी की प्रामाणिक दर ऊँची ही है, बल्कि वहां का रहन-सहन यहां से कहीं अच्छा है। इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि, अमेरिका के संयुक्त-राज्यों में आदमी पीछे खरीदने की औसत ताकत इस देश के आदमी की अपेक्षा बहुत बढ़ी हुई है। यह बात अधिकांश इस कारण है कि, वहां यंत्र-बल का प्रयोग अत्यन्त बढ़ा-चढ़ा है, जिससे आदमी के कमाने की ताकत बढ़ी हुई रहती है।"

श्री हेनरीफोर्ड की जिन दोनों पुस्तकों के हमने कई जगह प्रमाण दिये हैं, उनमें जगह जगह इस तरह के विचार पाये जाते हैं—

"यह तो सच है कि छोटा कारबार पूँजी, मजूरी और जनता की भूल के सहारे चल सकता है; परन्तु बड़ा कारबार इस सिद्धान्त पर नहीं चल सकता कि, अपने काम करने वालों को जितना चाहे पीस ले। सीधी बात यह है कि, जो जनता तुम से माल खरीदती है, वह भी कहीं से आती ही है। मालिक मजूर और खरीदार जनता सब एक ही है, और जिस व्यवसाय में ऐसा बन्दोबस्त नहीं हो सकता कि, मजूरी ज्यादा दे और दाम कम

रखे; वह व्यवसाय स्वयं नष्ट हो जायगा; अन्यथा उसके खरीदारों की संख्या परिमित हो जायगी।"

"यह बात तो साफ हो जानी चाहिए कि, मजूरी का बढ़ना दूकानों से ही शुरू होता है। अगर दूकानों से शुरू न हो, तो मिलों में वह नहीं पहुँच सकता। कभी कोई ऐसा ढंग पैदा नहीं हो सकता, जिसमें मेहनत-मजूरी की जरूरत ही न हो। प्रकृति का प्रबन्ध ही ऐसा है। हमारे हाथ और दिमाग़ बेकार नहीं बनाये गये। श्रम ही में हमारी बुद्धिमानी, हमारा आत्म-सम्मान और हमारा त्राण है। श्रम अभिशाप नहीं है, बड़ा सुन्दर आशीर्वाद है। धर्म्म-संगत श्रम में ही यथार्थ सामाजिक-न्याय है।

"यदि हम ज्यादा मजूरी बांट सकें, तो वह रुपया आखिर खर्च तो किया ही जायगा। उससे और-और विभागों के मजूर, कारखानेदार, बेचने वाले और थोकदार अधिक समृद्ध हो जायँगे और उनकी सुख-समृद्धि का फल हमारी बिक्री पर पड़ेगा। सारे देश में मजूरी की दर के खूब बढ़े रहने से सारे देश की समृद्धि बढ़ी हुई रहती है। हाँ, इस के साथ यह भी शर्त्त है कि, अधिक माल की तय्यारी पर ही अधिक मजूरी दी जाती हो।"

"हमारे देश अमेरिका के संयुक्त राज्यों की समृद्धि का रहस्य यही है कि, हम खरीदने की ताकत बढ़ाने के ही उद्देश्य से ज्यादा मजूरी देते हैं, और कम दाम पर बेंचते हैं।"......

"ख़र्च को घटाने के लिए, यंत्र-बल चलाने के लिए, छीजन रोकने के लिए, और इस तरह मजूरी के उद्देश्य को यथार्थतः समझने के लिए भारी कारबार की जरूरत है। परन्तु भारी

कारबार का यह मतलब नहीं है कि, वह एक स्थान में कसा हुआ हो। हम तो कारबार को देश-भर में फैलाते हैं।"......

"बेकार-आदमी बेकार खरीदार है। वह खरीद नहीं सकता। जिसे कम मजूरी मिलती है, उसकी खरीदने की ताकत घटी हुई है। वह भी खरीद नहीं सकता। खरीदने की घटी हुई ताकत से कारबार मन्दा पड़ जाता है। आमदनी के कम या अनिश्चित होने से खरीदने की ताकत घट जाती है। कारबार के मन्दे होने का इलाज खरीदारी की ताकत के बढ़ने में है, और इस ताकत का मूल स्रोत मजूरी है।"

जब तक साधारण वस्तुओं का बनाने वाला अपनी बनाई चीज खरीद नहीं सकता, तब तक सच्ची समृद्धि नहीं हो सकती। तुम्हारे अपने मजूर भी तो जनता का एक अंश ही हैं। यही बात हर जगह लग सकनी चाहिए। परन्तु यूरोप में एक कठिनाई यह है कि मजूर से यह आशा नहीं की जाती कि वह जो कुछ बनाता है उसे खरीद भी सकेगा। यूरोप की एक कठिनाई यह भी है कि भूतकाल में उसका इतना अधिक माल बाहर के बाजारों में खपता रहा है कि वहाँ घर के बाजार के चलाने का कभी कोई ख्याल ही नहीं किया गया।"........

"जो उसे समृद्ध बनाते हैं उन्हें यदि मालिक समृद्धि का साझी नहीं बनाता, तो बहुत ही शीघ्र साझे के लिए समृद्धि ही न रह जायगी।"

"माल तैयार करने के सुभीते मौजूद हैं, परन्तु खपाने के सामर्थ्य से यह अधिक हैं। किन्तु इस धरती पर शान्ति का साम्राज्य तभी हो सकता है, जब खपाने का सामर्थ्य उपजाने

के सामर्थ्य के बराबर हो जायगा और रखा जायगा। यह बराबरी तभी आ सकती है, जब हमारी नीयत ऐसी हो जाय कि हम मजूरी बढ़ाने की ही नीयत रक्खें, मुनाफ़ा बढ़ाने की नीयत को उसके अधीन कर दें।

संयुक्त-राज्यों के बाहर मजूरी बढ़ाने की नीयत को कदम रखने की जगह आज तक नहीं मिल सकी। सारा कारबार, प्रायः महाजनों की मुट्ठी में है और मुनाफे पर चलता है। वह सामान्य सामाजिक जीवन के उपयोग का साधन नहीं समझा जाता।"........

जब ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के अधिकार का काल और अधिक बढ़ाने का प्रश्न पार्लियामेन्ट की एक समिति के सामने उपस्थित हुआ था उस समय उस समिति के सामने सर-चार्ल्स ट्रेवेलियन, के० सी० बी० ने २३ जून १८५३ ई० को गवाही दी थी। उस गवाही में भी इन्हीं विचारों का सार अनुरोध-पूर्वक उपस्थित किया गया था। एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा था ......"मेरा तो अन्दाजा है कि वह लाभ बड़े महत्व के हैं, परन्तु मैं उनसे भी अधिक लाभ इसमें समझता हूँ कि भारतवर्ष अधिक सभ्य और समृद्ध हो जाय और वहाँ के निवासी इतने धनवान हों कि हमारी बनाई चीजें खरीद सकें, चाहे उनकी ताकत हमारे अधिकांश उपनिवेशों की अपेक्षा बहुत कम ही क्यों न हो; तो मेरी समझ में हम भारत से बहुत भारी सफल तिजारत कर सकेंगे।"

श्री फोर्ड के अवतरण जो दिये गये हैं, उन्हें एक तरह से ताजा कर देने के लिए १ जुलाई सन् १९२७ के लाहौर के

"ट्रिब्यून" से एक समाचार के अंश का कतरन हम दिये देते हैं।

अमेरिका का मजूर

आय में वृद्धि

अमेरिका में राष्ट्रीय-आर्थिक-सम्मेलन नामक संस्था का एक मण्डल है—जो वस्तुतः एक दानी के बल से आर्थिक खोज किया करता है। इसने परिशीलन-पूर्वक यह मालूम किया है कि, सन् १९१४ में वहाँ मजूर के परिवार की जो आमदनी थी, वह आज एक तिहाई के औसत से अधिक बढ़ी हुई है। मण्डल का कहना है कि यद्यपि युद्ध के पहले की अपेक्षा अब रहन-सहन का खर्च सैकड़ा पीछे ६४ अधिक है, तो भी मजूरी उसकी दूनी बढ़ गई है; और वास्तविक खरीदने की ताकत औसत ३४ प्रति-सैकड़े से अधिक बढ़ गई है। कुछ तो यह बढ़ी हुई मजूरी के कारण है और कुछ स्थिर रीति से काम लगे रहने के कारण।"

यह भी ख्याल रखने की बात है कि यद्यपि ब्रिटेन बहुत बड़ी मात्राओं में भौतिक बल से काम लेता है तोभी उसने अमेरिका की इस नीति से काम नहीं लिया है कि भारी मजूरी दे-दे कर घरू बाजार को बढ़ा ले। उसकी कठिनाइयों का और और संयुक्त-राज्यों के बराबर वह समृद्ध क्यों नहीं है, इस बात का एक कारण यह है। संयुक्त-राज्यों में भी तो भारी मजूरी वाली नीति का १९२०—२१ तक व्यापक व्यवहार नहीं था। यह तो पीछे फैलाई गई है।

इस विषय पर एक दूसरी तरह पर विचार कीजिए। आज-कल के बल-प्रेरित-कल और पूंजी-वाद के संयोग से इतनी

अधिक मात्रा में माल तैयार होने लगा है कि जिसे खपत-और मांग का सूत्र कहते हैं वह नियम ही उलट गया है। एक लेखक इसी बात को यों लिखता है* "जब हाथ से माल तैयार करने का जमाना था तब समस्या यह थी कि खपाने वाले की माल की मांग कैसे पूरी की जाय। अब समस्या यह है कि माल के लिए खपाने वाले कहां से जुटाये जायँ।" यह बात तो अमेरिका में खूब अच्छी तरह से खास तौर से मानी जाती है। उदाहरण लीजिए। व्यवसाय का एक उद्देश्य है कि ग्राहक पैदा भी करें, और उनकी मांग भी पूरी करें। + "अब तो यह समस्या ही नहीं रही कि काफी माल कैसे उपजाना चाहिए। अब समस्या यह है कि जो माल बढ़ी हुई मात्रा में तैयार होता जा रहा है उसे बेच कैसे डालें।" † "ग्राहक पैदा करना उतनी ही जरूरी बात है जितनी कि माल का पैदा करना।" ‡

यदि यही बात है तो आजकल के व्यवसाय के लिए बड़े महत्व की बात यह है कि सर्व-साधारण की खरीदने की ताकत बढ़ाई जाय।

खरीदने की ताकत बढ़ जाय और यह वृद्धि व्यापक हो

---

* R. A. Freeman—*Social Decay and Regeneration*, Constable, London, 1921, p. 129.

\+ Henry Ford: *Today and Tomorrow*, p. 152.

† Garet Garret *Ouroboros*, Kegan Paul, London, 1926.

‡ E. A. Filene; *The Way Out*, Doubleday Page, New York, 1924.

जाय, इसका अर्थ यह है कि सारी आबादी में सम्पत्ति प्रायः बराबर बराबर बँट जाय। यह सामाजिक न्याय का वह रूप है और सामाजिक स्थिरता के बढ़ाने का वह साधन है जिसकी हर देश में मुद्दत से खोज हो रही है। जान पड़ता है कि एक समय में यह भारत में विद्यमान था और चरखे और करघे का व्यापक प्रचार इसका बहुत बड़ा कारण था। × कृषि और कारीगरी में पुष्ट

× See the records of early travellers and historians such as, Arrian, The Elder Pliny, Marco Polo, Barbosa, Verthena, Caesar, Frederic, Bernier, Tavernier, Pyrard, Sulaiman Ralph Fitch, Thavenot, Alexander Hamilton. Also, Rhys David: *Buddhist India*, Fisher Unwin, London, 1903, pp. 101-102; references in Balkrishna. *Commercial Relations between India and England*, 1601-1757, Routledge London, 1924; James Mill *History of British India.* Elphinstone *History of India.* W. Foster *Early Travels in India*, Oxford Univi Press, 1921. Reports and letters of early East India Company servants, such as Montgomery Martin, Bolt, Verelst, Orme, Hastings, Clive, Dr. Taylor, Reports from the Committee of the House of Commons, Vol. V. 1781-82, printed 1804. Burke Collected Works, Vol. VIII. Ninth Report from the Select Committee on the Administration of Justice in India, Dr. Royle, *Arts and Manufactures of India.* Lectures on the Results of the Great Exhibition of

साम्यावस्था बनाये रहने में यह बड़े सहायक रहे। सम्पत्ति के इस समविभाग की दशा को, अथवा उसी के लगभग अवस्था को, फिर से लाना अत्यन्त महत्व की बात है। बल की वृद्धि करके मजूरी की दर बढ़ाकर, मिल मालिकों और गाहकों को कारबार में हिस्सेदारी आदि के बराबर मेल से संयुक्त-राज्य इस मार्ग पर अग्रसर हैं। इनमें से पहली रीति की चाल तो भारत में अब चल नहीं सकती, परन्तु चरखे और करघे के सुधार और व्यापक प्रचार से भारत भी यही लाभ उठा सकता है।

थोड़ा-सा ही मनन करने से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि अमेरिका की इस व्यापारी नीति को भारतवर्ष में काम में लाने का सब से उत्तम उपाय चरखे का प्रचार ही हो सकता है। कम से कम खर्च और समय में इस उपाय से लाखों आदमी काम में लगाये जा सकते हैं। चरखे के प्रचार से बहुत से भौतिक बल का विकास हो जायगा और सर्व-साधारण की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति में वह परिणत हो सकेगा। किसी और विधि या योजना से इतने सीधे और इतनी व्यापकता से तैयार माल गाहकों के पास पहुँचाया नहीं जा सकता। यद्यपि ऊँची दर की मजूरी उससे न मिल सकेगी, तो भी औसत मजूरी जो भारत में आज मिल रही है उसे चरखे का प्रचार बढ़ा देगा और दर भी

1851. First Series; references in P. J. Thomas, *Merchantilism and the East India Trade*, P. S. King & Son, London, 1926. Brooks Adams *Law of Civilization and Decay*—James Cotton *India*, English Citizen Series.

कुछ ऊँची कर देगा। ऊँचे दर की मजूरी की ओर अग्रसर होने के लिए यह पहला क़दम है। प्रसंगतः इस विधि से खरीदने की ताकत बढ़ जायगी, कुल मिलाकर तो बहुत हो जायगी, और उस का प्रभाव बढ़ता ही चलेगा और ताक़त या समृद्धि इकट्ठी हो चलेगी। जैसा कि आठवें अध्याय में दिखाया गया है, इस तरह की बढ़ती बहुत जल्दी ही करोड़ों रुपयों तक पहुँच जा सकती है। यह इस तरह की बढ़ती है कि किसान को भविष्य के लिए भरोसा हो जाता है। इस रीति से जो उसे मिलता है, वह नक़द रुपया नहीं है जो महसूल या दस्तूरी के रूप में उससे झटक लिया जायगा, या और किसी तरह उससे ठग लिया जायगा। वह तो कपड़ा है, जो वह पहन डालेगा। धीरे धीरे अ-प्रत्यक्ष रीति से अधिक न्याय्य धंधे की ओर उसकी रुचि और योग्यता बढ़ेगी। इन सब बातों से हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि वह पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार "ऊँचे दरजे का जीवन" बिताने लगेगा। ऊँचे दरजे का वह जीवन तो वस्तुतः ऊँचे दरजे का उड़ाऊपन है। जो हो, भारतीय किसानों के उड़ाऊ होने के दिनों के बहुत पहले ही उनके गाहक होने और खर्च कर सकने की ताक़त के बहुत कुछ बढ़ जाने की बड़ी गुंजाइश है।

श्रीचक्रवर्त्ति राजगोपालाचार्य्य ने भारतीय देहातियों में सम्पत्ति की बटाई की। समस्या का तत्व बड़ी सुन्दर स्पष्टता से उस वक्तृता में समझाया है, जो उन्होंने पूने में दी थी और जो २४ मई, १९२८ के 'यंगइंडिया' में छपी थी। एक अंश यों है—

"सम्पत्ति का अर्जन करने के बाद उसे तुम बराबर बराबर बांट नहीं सकते। इस बात पर मनुष्यों को राजी करने में तुम सफल

नहीं हो सकते। परन्तु तुम सम्पत्ति इस तरह पैदा कर सकते हो कि पैदा करने के पहले ही बराबर की बांट सुनिश्चित हो जाय। यही खादी है।...खेती और खादी को भारत में प्राचीन पारिवारिक धन समझना चाहिए और यह करोड़ों जनता की जायदाद होनी चाहिए। दोनों ऐसे व्यवसाय हैं जिनमें सभी लग सकते हैं और करोड़ों जनता के घरों में सब जगह लग सकते हैं।...... पूंजी वाले विशेष उद्योग भले ही खड़ा करें। परन्तु खेती और खादी को सबकी साझे की जायदाद समझ कर अछूता छोड़ दिया जाना चाहिए, क्योंकि राष्ट्र के अधिक गरीब अंगों के लिए यही एक सम्पत्ति है।"

यही बात उतनी ही सचाई के साथ पच्छांह के देशों पर भी लग सकती है। शायद वहाँ भी किसानों का अधिकांश कष्ट इसी कारण है कि वह अपनी उपज का अत्यधिक अंश दूर दूर के होड़ वाले बाजारों के भयानक भवँरों में खिंच जाने देते हैं। यदि वह अपने खर्च के लिए काफ़ी भोजन रख लें, अपना अनाज आप ही पीस लें और अपने कपड़े अपनी बस्तियों में आप ही बना लें तो उनकी रक्षा की सीमा कुछ बढ़ जाय। जिस व्यापार के जाल में वह फंस गये हैं उसमें उनकी शक्ति और उनका समय बुरी तरह से खिंचे और लुटे जा रहे हैं। "मनुष्य मनुष्य में और राष्ट्र-राष्ट्र में अन्योन्याश्रय वाली" रोचक और सुन्दर बातें सब की सब उस बरबाद करने वाले व्यापार और बँटाई के ढंग को ढकने के शायद उपाय हैं, जिससे कि असंख्य कुछ न पैदा करनेवाले बीच के दलाल बेचारे किसानों का शिकार कर रहे हैं। पिछले दो तीन दशकों में संयुक्त राज्यों में और

इंगिलस्तान में बँटाई का खर्च भी बहुत बढ़ गया है और ऐसे लोगों की कुल आबादी भी अपेक्षाकृत बढ़ गई है जो सिडनी रीव के शब्दों में व्यापारी दंगल में जुटे हुए हैं—जैसे, व्यापारी, साहूकार, दलाल, वकील, आदि। इस परोपजीवी बोझ का अधिक भार किसानों को ही उठाना पड़ता है।

यदि यह बातें इसी तरह की हैं, तब तो हर मिल-मालिक को, सौदागर को, साहूकार को, बनिये को, महाजन को बल्कि स्वयं लंकाशहर के व्यवसायियों को उचित है कि खद्दर के संगठन में सहायता दें। भारत की आबादी संसार का पंचमांश है। यदि यह समूचा पंचमांश खद्दर पहनने लग जाय, तो सारे संसार की खपाने की क्षमता में इतना भारी सुधार और ऐसी अधिक वृद्धि हो जाय कि संसार के व्यापार में एक प्रकार की पुनर्जागृति हो जाय। *

---

* See J. A. Hobson *Economics of Unemployment*, Allen and Unwin, London, 1922, for further explanation of the effect of increased purchasing power; also P. W. Martin: the '*Limited Market*, Allen & Unwin, London, 1926; also various publications of the Polak Foundation for Economic Research, New York City..

छठा अध्याय

जगह-जगह माल की तैयारी और खपत

यूरोप, अमेरिका या अन्य देशों के रहने वालों को जिन्होंने पाश्चात्य परिस्थितियों में अपना जीवन बिताया है, भारतीय आर्थिक स्थिति की नितांत भिन्नता को यथार्थ रीति से समझ लेना अत्यन्त कठिन है। ऋतुओं का परिवर्तन, रीति-रस्म, खाना-कपड़ा, घर-द्वार का ढंग, कृमि-रोग, मलेरिया, हैजा, काला-आज़ार और अन्य दुर्बल करने वाले रोग, बच्चों की मृत्यु, जीवन की आशा, यान्त्रिक वा कारखाने वालों के उपयुक्त संयम वा स्वभाव का अभाव, आचार और विचार में पुराण-प्रियता और कट्टरता, समय का महत्व, सहकारिता वाले कामों के रूप और महत्व की समझ और बान, खरीदने की ताकत, पढ़े-लिखे होने की दशा, सामाजिक पद्धतियाँ, रहन-सहन के परिमाण, जीवन के साधारण कामों में धर्म का भाग, नगर और गावों की आबादी की परस्पर निष्पत्ति, पार्थिव पदार्थों की उपज और विभाग का एक जगह रहना या जगह-जगह बँटना—यह सभी बातें भारत में विशेष रीति पर हैं। पश्चिम में बिलकुल

भिन्न-रीति पर हैं। इन बातों में से अन्तिम दो बातों पर इस अध्याय में विचार किया जावेगा। ठीक-ठीक भाव समझने के लिए इस बात की बड़ी भारी आवश्यकता है कि, जिज्ञासु उन्हीं लोगों में रहे। और जो कोई उनके सच्चे भाव को गम्भीर रीति से अनुभव करना चाहे, उसे तो ठीक ठीक भारतीय विधि से भारतीय होकर रहना पड़ेगा। भारत में पच्छाहीं आकर बस भी जाते हैं सही, पर वह पड़ोस में रहते हुए भी उनसे कोई संबंध नहीं रखते; पच्छाहियों का समाज भारतीयों के मध्य में रहते हुए भी अलग-अलग रहता है। परन्तु जिज्ञासु इस तरह रहकर अनुभव नहीं कर सकता।

इंगिलस्तान और वेल्स में देहातों में आबादी का सैकड़ा पीछे २२ अंश ही रहता है। परन्तु भारतवर्ष में गाँवों और देहातों में आबादी का साढ़े नब्बे प्रति सैकड़ा रहता है।

इस एक आवश्यक तथ्य के साथ ही साथ भारतवर्ष के लोगों का प्राचीन-रीतियों के साथ अखण्ड प्रेम, काम करने की प्राचीन से प्राचीन रीतियों को स्थायी रखना, हाथ के कारीगरों का करोड़ों की संख्या में होना, गाँव के बाज़ार, छोटी-छोटी दूकानें, छोटे पैमानों पर जगह-जगह माल की तैयारी और फिर जगह-जगह वहीं का वहीं माल का खप जाना, यह सब बातें भी ध्यान में रहनी चाहिएँ। अधिकांश दूकानदारी या बेचने-खरीदने का काम, बनाने वाले और खर्च करने वाले के ही बीच प्रत्यक्ष रीति से होता रहता है। दोनों के बीच में एक भी तीसरे की जरूरत नहीं पड़ती। जो आदमी माल उपजाता है, उसे दस-पाँच मंजिल की दूरी पर जाकर या भेजकर बेचना नहीं पड़ता। वह अपने ही

या पड़ोस के गाँव में ही अपना माल बेंच डालता है। जिस तरह का रहन-सहन है, जो जीवन का परिमाण है, सब तरह के काम उसी वेग से होते रहते हैं।

यह कहा जा सकता है कि प्राची में जीवन और क्रिया दोनों सूर्य की नित्य बहती हुई शक्ति की धारा से बल पाते हैं और दोनों का वेग ठीक वैसा ही है, जैसा कि साधारण व्यक्ति-जीवन का प्रकृति में होता है। पच्छाहीं के निकट दोनों ही अत्यन्त सुस्त हैं। परन्तु इसलिए उनसे घृणा न करनी चाहिए। हम तो प्रकृति के नियमानुसार शलजम या गुलाब के धीरे धीरे होने से उनसे घृणा नहीं करते। सब प्राकृतिक शक्तियों में सूरज की धूप सब से बड़ी शक्ति है, और पूरबी जीवन का उससे प्रत्यक्ष और सुसंगत सम्बन्ध है। यही बात है कि पूरबी जीवन के सर्वोत्तम रूप में अनेक ऐसे गुण पाये जाते हैं, जिनका बहुधा पाश्चात्य जीवन में कहीं लवलेश भी नहीं होता। वह गुण हैं, शान्ति, गांभीर्य्य, धैर्य्य, औदार्य्य, संगति, सदाचार, दूरगामी विश्वास, सादगी और सौन्दर्य्य।

अत्यन्त सघन और यांत्रिक ढंग के जीवन व्यतीत करने वाले अमेरिका या यूरोप के यात्री को वह जितना धीमा लगता है, परिस्थिति के विचार से उतना धीमा और अयोग्य नहीं है। यद्यपि भारतीय स्थिति के लिए भी निस्सन्देह दुर्भाग्यवश वह बहुधा धीमा ही होता है, परन्तु इसका कारण है मलेरिया, कृमिरोग, हैजा, आंत्रज्वर आदि जो प्राणशक्ति को क्षीण कर देते हैं।

भारत में माल की उपज और बँटाई भी एक जगह पर केन्द्रित नहीं है। जगह जगह सारे देश में यह काम बँटा है, और

सभी जगह छोटे पैमाने पर होता है। भारत के लोगों को यह योजना केवल अच्छी तरह मालूम ही नहीं है, बल्कि उनके जीवन का अंग हो रही है। उनके रहन-सहन की रीतियां, स्वभाव और मानसिक काम सब में यही विधि व्याप रही है। भारत में रहते वह पच्छाहीं वेग से और बड़े पैमाने पर सहज में और योग्यता से न तो विचार कर सकते हैं, न काम कर सकते हैं।

"भारत पर विहंगम दृष्टि" नामक ❀ पुस्तक में उसके रचयिता, बंगाल के पहले के गवर्नर लार्ड रोनाल्डशे का कहना है कि "पाश्चात्य देशों ने व्यवसायों का संगठन जिस ढंग पर किया है उसमें यंत्र, भाफ, जल या बिजली के बल से अत्यन्त भारी भारी कलों का समूह काम में आता है, और उसमें ऐसे काम करने को-जो इन यंत्रों से नहीं हो सकते, बँधी मजूरी पर मनुष्यों का भी एक भारी समाज रखना पड़ता है। भारतवर्ष के लोगों के स्वभाव से यह ढंग एक-दम विपरीत है। मैं अपने अनुभव से इसी नतीजे पर पहुँचा हूँ और मुझे तो इस निष्कर्ष से बचना कठिन दीखता है।"†

❀ Constable, London.

† A good description of Indian regional economics and its details, advantages and possibilities is found in Prof. Radhakamal Mukerjee's *Principles of Comparative Economics*, 2 vols. P. S. King & Son, Ltd., London.

भारतीय उपज के देश में जगह जगह बँटे रहने के संबन्ध में यह बात भी ध्यान में रखना बहुत जरूरी है कि कपास की खेती भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में हो सकती है और होती भी है।

यह तो स्पष्ट ही है कि चरखा और करघा दोनों इस स्थिति के बिलकुल अनुकूल हैं। हजारों बरस से इन दोनों का भारत की स्थिति से अनिवार्य्य सम्बन्ध चला आया है।

परन्तु अब साथ ही पच्छाहीं शिल्पी, कारीगर, सौदागर, या यात्री भी चले आते हैं जिनके रंग-ढंग भिन्न हैं, जिनका स्वभाव और परिस्थितियों के अनुकूल बन चुका है। वह तुरन्त ही भारत की इस स्थिति और चरखे करघे के जगह जगह बंटे काम और रोजगार आदि को दकियानूसी और निन्द्य बताते हैं और कहते हैं कि इनसे धन बरबाद होता है, इनमें किफ़ायत नहीं है। जिन भारतीयों ने पच्छाहीं रंग-ढंग पकड़ लिया है उनके भी विचार इसी तरह के हो गये हैं।

पर यह बड़े अचरज के साथ देखने में आता है कि सब से अधिक समृद्ध देश का सबसे सफल और उन्नतिशील कारबारी इन्हीं दकियानूसी विधियों से माल तैयार करने का पक्षपाती हो गया है, यद्यपि उसकी विधियां पच्छाँह की स्थिति के अनुकूल हैं। अपने भारी भारी कारखानों को भी हेनरी फोर्ड तोड़-तोड़ कर जगह जगह एक एक के अनेक छोटे छोटे कारखाने बनाकर गावों में बांट रहे हैं। वह बड़े बड़े शहरों के दरिद्रालयों को पसन्द नहीं करते और उनका अनुभव है कि छोटे छोटे घरेलू कारखानों

में माल की तैयारी में खर्च कम बैठता है। यदि पाठक चाहें तो उनके अनुभव और हेतुओं का पूरा वर्णन और इस संम्बन्ध के उनके उपायों का विवरण उनकी पुस्तक To day and tomorrow "आज और कल्ह" में पढ़ें। विशेषतः "समय का अर्थ" और "गाँव के व्यवसाय का पुनर्जागरण" नाम के अध्याय उसमें पढ़ें और उनकी दूसरी पुस्तक My Life and Work "मेरी जीवनी और मेरा व्यवसाय" में "माल की तैयारी में लग जाना" और "रेल की सड़कें" यह दो अध्याय पढ़ें।

यहां के लिए चार अवतरण बहुत होंगे।

"जहाँ कहीं संभव हो काम को जगह जगह बांट देने वाली नीति का अवलम्बन होना चाहिए। आटे के प्रकाण्ड मिलों की जगह उन सभी स्थानों पर जहाँ अनाज होता है छोटी छोटी मिलें फैला देनी चाहिए। ❀ जहाँ कहीं संभव हो, जो लोग कच्चा माल उपजाते हैं वही लोग उससे अन्त तक का तैयार पक्का माल भी उपजावें। जहाँ कहीं अनाज उपजे वहीं पीस कर आटा भी कर लिया जाय। जिस देश में सूअर पाले जाते हैं उस देश को सूअर बाहर न भेजना चाहिए। सूअर का मांस तैयार करके और तत्सम्बन्धी सभी तैयार माल उसे बाहर भेजना चाहिए। सूती

❀ आटे की मिलों के प्रचार से भी हमारे देश में बेकारी बढ़ाने में मदद मिल रही है और पीसने वाली स्त्रियों का सहज व्यायाम और स्वावलंबी जीवन घटा जा रहा है। अमेरिका की बात और है। यहां फोर्ड का कहना अपने देश के लिए है—उल्थाकार।

माल की मिलें बिलकुल कपास के खेतों के पास होनी चाहिए। यह कोई क्रान्तिकारक विचार नहीं है। एक तरह से यह विचार प्रति-क्रियात्मक अवश्य है। इसमें कोई नया प्रस्ताव नहीं है। इसमें तो वह बात सुझाई गई है जो अत्यन्त पुरानी है। पहले तो इसी ढंग पर सारे देश में काम होता था। कई हजार मीलों के चक्कर में गाड़ी पर ढो ढोकर हर तरह की चीज पहुँचाना और गाहक के सिर ढुलाई का खर्च मढ़ देना, इस कुटेव में हम पीछे से पड़ गये हैं। हमारी प्रजाओं को स्वतः पूर्ण और स्वावलम्बी होना चाहिए। रेल की बार-बरदारी पर व्यर्थ ही उन्हें अवलम्बित नहीं रहना चाहिए। जो कुछ वह उपजावें उसमें से वह अपनी जरूरत पूरी करें और फालतू माल जहाज से भेज दें ऐसा वह तभी कर सकते हैं जब उनके पास अपने उपजाये कच्चे माल को पक्का तैयार माल बना देने के साधन हों। यदि अलग अलग व्यक्ति अपने अपने साधन नहीं जुटा सकते तो अनेक किसान मिलकर ऐसी सहकारिता अवश्य कर सकते हैं। आज किसान पर यह खास जुल्म हो रहा है कि वह कच्चा माल का भारी उपजाने वाला होकर भी पक्के माल का बेचने वाला नहीं हो पाता। उसे लाचार होकर बनाने या तैयार करने वाले के हाथ बेंचना पड़ता है। यदि वह अपने अनाजों को आटा कर सकता, अपने चौपायों को मांस, चमड़ा आदि में परिणत कर सकता तो वह अपने तैयार माल का पूरा मुनाफा ही न पाता, बल्कि अपने आस पास के लोगों को वह रेल की ढुलाई की मुहताजी से मुक्त कर देता और अपने कच्चे माल के वृथा के बोझ से रेल को हलका करके पक्के माल की ढुलाई को सुधारने का कारण हो

जाता। यह बात केवल समझदारी की और व्यवहारसाध्य ही नहीं है बल्कि परमावश्यक होती जा रही है। इसके सिवा, अनेक स्थानों में ऐसा किया भी जा रहा है। तो भी ढुलाई की स्थिति पर और रहन-सहन के खर्च पर उसका पूरा प्रभाव तभी देखने में आ सकेगा जब वह अधिक व्यापक हो जायगा और अनेक मेल की चीजों में इसका प्रयोग होगा।

.............."यह एक साधारण नियम है कि भारी प्रकाण्ड कारखाने में खर्च की किफायत नहीं हो सकती।...... ...."हमने खेतीसे आदमी खींच नहीं लिये हैं, बल्कि खेती के गले व्यवसाय भी मढ़ दिया है।"

.............."भारी कारबार में जब लोक-सेवा का ध्यान बराबर मन में बना रहे, तो उसे सारे देश में बिखेर देना ही पड़ेगा। इससे न केवल खर्च घट कर कमसे कम परिमाण पर आ जायगा बल्कि माल उपजाने से मिला हुआ रुपया उन्हीं लोगों में खर्च होगा जो दाम देकर तैयार माल खरीदा करते हैं।"......

"इस तरह खेती-बारी केवल दिन-रात में के थोड़े समय का या फालतू समय का काम रह जायगा। और सचमुच ऐसा ही है भी। सीधी खेती तो धीरे धीरे अन्त में एक गौण विषय हो जायगी। इसे प्रकृति का एक नियम मान लें तो कोई हर्ज नहीं है कि एक मास की कमाई से कोई बारामास बैठा खा नहीं सकता। खेती-बारी भी इस नियम का अपवाद नहीं है। खेती-बारी की प्रकृत समस्या यह है कि किसान को खेती-बारी के सिवा भी कुछ

कमाई करने की जरूरत है कि वह अपना खर्च चला सके। यही सीधा सादा सत्य है।※

"जैसा कि पहले के एक अध्याय में दिखाया जा चुका है व्यवसाय के जगह जगह बँट जाने से खेती-बारी करने वालों को कृषि के काम में जो कमा है उसे पूरा करने के लिए काम धंधा भी मिल जाता है। व्यबसाय और कृषि दोनों अलग अलग और काम के भिन्न भिन्न विभाग समझे गये हैं। असल में दोनों एक दूसरे में बड़ी खूबी से मिल जाते हैं। जैसे खेती में खोटा समय आ जाता है वैसे ही व्यवसाय में भी मंदा समय आ जाया करता है। दोनों में खूब मेल हो सकता है। इसका फल यह होगा कि माल ज्यादा सस्ता और अधिक मात्रा में और भोजन हर आदमी के लिए मिला करेगा।"

जब हम किसानों का अपनी झोपड़ियों में बैठे चरखा कातना एक तरह का ऐसा व्यवसाय समझते हैं जिसमें सौर शक्ति को काम में लाने वाले भारी भारी बल के केन्द्र तोड़कर जगह जगह झोंपड़ी झोंपड़ी व्यवसाय बँट गया है तो हमें तुरन्त यह समझ में आ जाता है कि अमेरिका के जेनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी के प्रसिद्ध इंजिनियर चार्ल्स पी. स्टैनमेट्ज़ ने जिस योजना को चलाना चाहा

※ चरखे करघे के घरेलू काम छूट जाने से ही हमारे किसान दरिद्र हैं। वह बाहर जाते हैं तो खेती छूट जाती है। मजूरी से काफ़ी पैदा नहीं कर सकते। उपनिवेशों में उनकी दुर्दशा होती है। एक पुराने धंधे के अभाव में उनका सर्वत्र सर्वनाश हो रहा है।—उल्थाकार

था उसी का सिद्धान्त काम कर रहा है। उन्होंने अपनी योजना में पहले इस चलती हुई नीति का वर्णन किया कि अभी भारी खर्चीले खजानों में पहले पानी बटोरा जाता है, और बड़े बड़े खर्चीले जल-बिजली के कारखानों में अमित मात्रा में बिजली तैयार की जाती है, फिर उसकी धारायें ग्राहकों को बांटी जाती हैं। इसके बदले उन्होंने यह प्रस्ताव किया कि जल-प्रपात या जल स्रवण जहाँ जहाँ होता है वहीं क्षेत्रभर में सैकड़ों छोटी छोटी जल-बिजली की पनचक्कियों के घर बने होने चाहिए। उन सबसे धारायें लेकर एक केन्द्रीय स्थान पर बटोर कर फिर से बांटी जाया करें।

उन्होंने लिखा है—"परन्तु जल-बल के प्रबन्ध में जो अधिक खर्च लगता है, उससे इस तरह का विकास उसी दशा में व्यवहार-साध्य होता है जहाँ जल की भारी मात्रायें पर्य्याप्त-रूप से इकट्ठी ही मिल जाती हैं। जल के स्थानों का ज्यों ज्यों विकास और वृद्धि करते जाते हैं त्यों त्यों उन जल-बलों की संख्या घटती जाती है जिनका विकास हम अपनी साम्प्रतिक विधियों से कर स कते साथ ही देश के अनेक निहित जलबल का विकास हमारे साम्प्रतिक जल-बिजली के उत्पादन की प्रामाणिक रीतियों से नहीं हो सकता। क्योंकि जल-बल के विकास के अनिवार्य्य प्रबन्ध में जितना खर्च जल-संग्रह में लगता है उसके अनुमान से बल-संचय बहुत कम कीमत का पड़ता है। अपने देश के जलबल को पूरी तौर से काम में लाने की हम तभी आशा कर सकते हैं जब हम बिजली के उपजाने में उन्हीं सिद्धान्तों से काम लें जिनके प्रयोग से बिजली

के चालक यंत्र (मोटर) * सफल हुए हैं। इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ बल मिल सके वहीं बिजली की कल पहुँचाई जाय। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे जहाँ कहीं यंत्र-बल चाहिए वहीं प्रत्येक कल के पास हम एक एक चालक पहुँचा देते हैं, उसी तरह एक एक विद्युत-उत्पादक को वहां वहां रख दें जहां जहां जल धारा में जल-बल प्राप्य है, और विद्युत की ही रीति से इन उत्पादकों से बल का संचय करें ※

चरखे के साथ इसकी समता बिलकुल स्पष्ट है। काम करने वालों को खर्चीले शहरों और मिलों में बटोरने के बदले, सारे देश में जहाँ जहाँ काम करने वाले हैं वहाँ वहाँ चरखों को पहुँचा दें, और जहाँ कर-बल असल में मौजूद है वहीं उससे काम लें।

श्री एडवर्ड ए० फिलीन अमेरिका के सब से अधिक सफल सौदागरों में गिने जाते हैं। उन्होंने The Way Out "निकलने की राह" नामक पुस्तक में व्यवसाय के जगह जगह पर बँट जाने की आवश्यकता और उपयोगिता पर इसी तरह के

※ मोटर से यहाँ गाड़ी नहीं अभिप्रेत है। मोटर उस चालक यंत्र को कहते हैं जिससे कोई और यंत्र चलाया जा सके। जैसे बिजली के पंखों को चलाने के लिए उनके पीछे गोलसा जो यंत्र लगा रहता है वही पंखे का चालक है

*General Electric Review, 1919. cited in Polókov, mastering Power Producion. (above cited), p. 414.

† Doubleday Page & Co, New York, 1924.

अपने विश्वास प्रकट किये हैं। इस तरह उपजाने वालों में प्रमाणभूत श्री स्टैनेमेट्ज़ और माल की बिक्री करने वालों में प्रमाणभूत श्री फिलीन, दोनों ही इस सिद्धान्त को पसन्द करते हैं।

भारतीय सूती कपड़े के सम्बन्ध में, आजकल के कल-बल-चालित, बड़े पैमाने पर, एक स्थान में केन्द्रित व्यवसाय और व्यापार के मुकाबले कर-बल-चालित, छोटे पैमाने पर जगह जगह बँटे उपज और बिक्री के उपायों में कितने लाभ हैं और कितनी किफायत है, उसका सार यहाँ तीन अलग अलग सारिणियों में दिया जाता है—

(अ) खर्चे में बचत के ढंग

मौजूदा खर्च के इन कारणों को उड़ा देना या बहुत घटा देना

१—कच्चे माल को चुन कर इकट्ठा करना।

२—कच्चे माल को गोदाम में जमा रखना।

३—रेल या जहाज द्वारा ढुलाई।

४—दूर की ढुलाई के लिए आवश्यक गाँठ-बन्दी।

५—बड़े वेग और बल से चलनेवाली ओटने और धुनने की कलों से रूई के रेशों का छीजना और कमजोर हो जाना।*

* See Sir George Watt, *Commercial Products of India* pp. 593, 611. Also, W. H. Johnson, *Cotton and its Production*, Macmillan, 1926, pp. 135,-140-143.

६—इन ओटनियों से बीजों पर चोट पहुँचना और विविध वर्गों और गुणों के बीजों का मिल जाना।*

७—बड़े पैमाने पर बटोरने से, बहुत काल तक गाँठों के रूप में गोदाम में बँधे पड़े रहने से, दूर दूर तक ले जाये जाने से, माल की दशा के अनुसार गाँठ के खोलने, मैल के दूर करने, दाब के कुप्रभाव को मिटाने आदि कामों में जो अनिवार्य क्रियायें मिल में होती हैं

८—ढुलाई, गोदाम में भर रखने और बड़े पैमाने पर माल के धरने उसारने से वह हानियाँ जिनका कोई इलाज ही नहीं है।

९—कच्चे और पक्के सब तरह के माल पर चोरी और आग लगने का बीमा।

१०—तैयार माल को गोदाम में जमा कर रखना।

११—विज्ञापन-क्रिया।

१२—ग्राहकों की रुचि और फ़ैशन के बदल जाने से तय्यार माल का बिकने के योग्य न रह जाना।

१३—रुपया, मजूर, ज़मीन, ईंधन और दूसरे सुभीतों और वस्तुओं का बरबाद होना, अथवा शौकीनी के माल की तय्यारी में लग जाना।

१४—दलाल, थोक फरोश, कमीशन वाले, बीच में हाथ लगाने वाले या बिचवइयों के खर्च और मुनाफ़े।

१५—कच्चे और तय्यार माल के भावों में घट-बढ़ और उन पर सट्टेबाज़ी।†

---

* पिछले पृष्ठ की पाद-टिप्पणी देखो

† अन्तर्राष्ट्रीय साम्पत्तिक सम्मेलन में पेश की गई जिस रुई पर की

१६—(क) लेखकों और बेचने वालों के भारी समुदाय, और (ख) बहुत दाम की कलें, कोठियां, जमीन और दूसरी सामग्रियों के कारण मद से ऊपर के बढ़े हुए खर्चे।

१७—ईंधन और बल का खर्च

१८—अदालती खर्च

१९—ऋण, मितीकाटा आदि पर साहूकारी खर्च।

२०—आय-कर तथा अधिक-कर।

२१—म्युनिसिपल कर तथा पानी के दाम।

२२—कल-पुर्जे और इमारतों के बनाये रखने और मरम्मत का खर्च।

२३—कल-पुर्जों के, बैलटों के, कोठियों के और घरों के, एवं अन्य सामग्रियों के घिस और छीज जाने, तथा उनकी चाल के उठ जाने से व्यय।

२४—चोट खाये मजूरों को कानूनी हरजाना, या काम करने वालों का क्षतिपूरण बीमा।

२५—इमारत और कल-पुर्जों में आग लगने का बीमा।

(इ) *नीचे लिखे कारणों से उत्पन्न जोखिमों का घटाया जाना अथवा एकदम उड़ा दिया जाना*

१—दुर्भिक्ष अथवा फ़सिल का मारा जाना।

२—आग लगना।

रिपोर्ट का अवतरण पीछे दिया जा चुका है, उसमें पृ० ६ पर लिखा है कि "सूत और कपड़े का थोक माल जमा कर रखना बड़े जोखिम की बात है; क्योंकि रुई का भाव जहां गिरा, रखे माल की कीमत भी गिर जाती है।"

३—चोरी।

४—हड़ताल या काम-बन्दी।

५—माल की ढुलाई में देर।

(उ) आर्थिक और सामाजिक सम्भावनायें वा अप्रत्यक्ष प्रभाव

१—ऊपर लिखे (अ) के अन्तर्गत बोझों के हल्के हो जाने से रहन-सहन के व्यय में कमी का होना।

२—विदेशी आर्थिक और व्यापारी स्वार्थों एवं दबावों से अधिक छुटकारा पाना।

३—टिकाऊपन, उपयोगिता और सौन्दर्य के सम्बन्ध में तैयार माल की अच्छाई में सुधार।*

४—भयानक दरिद्रता सरीखी सामाजिक बुराइयों को, नागरिक जीवन के नैतिक और शारीरिक पतन को, बेकारी और उसके भय को, और शील की अवनति को घटाना।

५—शहर में बस जाने की प्रवृत्ति को, और उससे रेलगाड़ियां, और म्युनिसिपलिटी के कामों में और इसी तरह के शहरी सुभीते में राष्ट्र के अपव्यय को घटाना।

---

* See authorities cited in Clhap, VIII. also, *The Basis for Artistic and Industrial Revival in India* by E. B. Havell, Late Principal of Government School of Art, and Keeper of the Art Gallery, Calcatta 1912. Theosoplist Office, Adyar, Madras, India. Also A. K. Coomaraswamy, *Art and Swadeshi*, Ganesh & Co, Madras.

६—लोक-जीवन पर छोटे-बड़े सब तरह के साहूकारों के अधिकार और दबाव को घटाना।

७—उपर्युक्त छठी मद का ही यह एक अंश है। व्यापार में प्रचलित साख और साख-सम्बन्धी हुँडी-पुरजे आदि के प्रयोग को घटाना। इससे उधार और साख की मात्रा अत्यधिक न होने पावेगी और उस पर कुछ रोक-थाम रहेगी। नहीं तो, खास-खास लोग साखपर निजी और अनुत्तरदायी अधिकार कर लेते हैं और कीमत की दर मनमानी बढ़ा देते हैं।

८—अधिक अवकाश का मिलना।

९—अधिक स्वास्थ्य और अधिक मानसिक और शारीरिक शक्ति।

१०—आविष्कारक और रचनात्मक बुद्धि में वृद्धि और साम्राज्यवाद, लोभ और हड़पने के लालच और अवसरों में कमी।

११ जो अधिक भूमि कपास उपजाने के काम में आज आ रही है उसे अन्न उपजाने के काम के लिए छुड़ा लेना। *

---

* Regarding excess land devoted to Cotton see Sir George Watt—*Commercial Products of India*, 1908, p. 623. Also Satis Chandra Das Gupta—*Khadi Manual*, Vol II, Khadi Pratishthan, Calcutta, p. 132.

For detailed estimates of such losses as are listed under A, B & C, even in a country supposed to be as efficient as the United States, see Stuart Chase—*The Tragedy of Waste*, MacMillans, New York, 1926.

कपड़े के तैयार करने वालों की अमेरिका की सभा की रिपोर्ट का हवाला ऊपर दिया गया है, उसी में सन् १९२५ के लिए यह अंक दिये गये हैं। पौंड पीछे सूती कपड़े पर क्या-क्या लागत खर्च बैठता है यही उसमें दिखाया गया है।†

---

† इस सारिणी को अपने पैसों में परिणत कर लेने में अधिक सुभीते से हम कई बातें समझ सकेंगे। इसलिए हम सेंट के बदले पैसे देते हैं और छीजन के दाम भी लगा लेते हैं तो सारिणी यों होती है। आध सेर के लगभग सूती कपड़े पर अमेरिका में सन् १९२५ में यह औसत लागत बैठी—

मजूरी ...	... ११·५०	पैसे	=)॥=
साधारण खर्च ...	... ११·००	पैसे	=)॥।
मिल में मौजूद रुई का दाम ...	४८·९२	पैसे	॥।)।
सब मिला कर छीजन के दाम...	५·३९	पैसे	-)।=
	७६·८१	पैसे	१=)।

ग्रंथकार ने शायद छीजन छोड़कर जोड़ ४१.२७ लगाया। छीजन २८.२८ पर सैकड़े के हिसाब से दिया गया है। सेंटों में ३·१२ हुआ। यदि इसे भी जोड़ लें तो जोड़ ४४.४० हो जाता है। ४१.२७ पर "साधारण खर्च" का सैकड़ा १५.३ और ४४.४० पर १४.३ होता है। हर हालत में इतने अंश की किफायत या बचत बहुत होती है। मूल ग्रन्थ में शायद शुद्ध अंक ६.३४ के बदले ६.३५ छप गया है। जिस रिपोर्ट से यह अवतरण लिया गया है, ग्रन्थकार ने उसे अमेरिका लौटा दिया है। अब उसे समय से मँगवा लेना असम्भव है, और उसके बिना इस छोटीसी भूल का संशोधन अनुमान के ही आधार पर किया जाता है। इससे हिसाब में कोई अन्तर नहीं पड़ता। इस आनुमानिक संशोधन का दायित्व उल्थाकार पर है। —उल्थाकार

मजूरी	६.६५ सेंट
साधारण खर्च	६.३५
मिलमें मौजूद रुई का दाम	२८.२८
सब जोड़ काटकर, छीजन	११.०८
कुल	४१.२७

साधारण खर्च वाली मद कुल का १५.३ प्रति सैकड़ा होती है। यद्यपि यह स्पष्ट नहीं किया गया कि इसमें कौन कौनसी मदें शामिल हैं, परन्तु हमारा ऐसा ख्याल है कि यह मदें उसी ढंग की होंगी जिनका समावेश ऊपर की (अ) सूची में किया गया है जिसमें खर्च बचाने की प्रायः सभी मदों का सार दिया गया है। उन मदों को खूब घटा देने अथवा एक दम उड़ा देने से खर्च में बहुत भारी किफायत होगी।

इस तरह की बचत किस किस तरह पर कहां तक हो सकती है, इसपर अधिक बातें मालूम करनी हों तो "हाथ की कताई-बुनाई" नाम की पुस्तक [सस्ता-मंडल, अजमेर] में, जिसका हवाला कई बार दिया जा चुका है, पाठक-वृन्द पृ० २४०-२४१ पर देखें। २४१ पर अहमदाबाद की पांच नमूने की मिलों में माल की तैयारी के खर्च की विविध मदों का इस प्रकार विश्लेषण किया गया है। वह हम यहां उद्धृत करते हैं—

कपड़ा तैयार करने में खर्च	गुजरात स्पिनिंग मिल	भारतखण्ड काटन मिल	अहमदाबाद मनूचन्द मिल	अहमदाबाद न्यू काटन मिल	राजनगर मिल्स	सैकड़ा पीछे औसत
१—मजूरी	१५·९	१७·६	१६·५	१४·८	२१·२	१७ फी सैकड़ा
२—खर्च होने की सामग्री	१८·३	८·८	९·७	११·४	११·२	१२ ,,
३—ईंधन	३·६	४·१	३·४	३·१	३·६	३·५ ,,
४—सूद	१ २	२·९	२·६	३·४	...	२·२ ,,
५—कमीशन	१·३	१·९	४·३	४·०	...	२·५ ,,
६—कर	९·६	५·६	७·१	३·१	४·२	५·५ ,,
७—रुई	४४·२	५०·०	४८·०	५३·५	६४·०	५२ ,,
८—छीजन	५·१	२·९	२·३	२·८	...	३ ,,

इसके बाद उस पुस्तक में लिखा है—

"ईंधन, बीमा कमीशन, कर और छीजन इन सब का ख़र्च मिलों में सैकड़ा पीछे १५ तक पड़ जाता है। हाथ के बल से काम लेने में चाहे कताई और बुनाई दोनों में बहुत ज्यादा मजूरी देनी पड़ती है तो भी मिलों से कपड़े के बनने में राष्ट्र का जितना ख़र्चा पड़ता है इसमें शक नहीं कि वह बेकार खर्च हाथ के काम में बच जाता है और देश की भारी बचत के लिए एक बड़ा मैदान छोड़ देता है।"

और पृ० २३७ पर उसी पुस्तक में लिखा है—

"कताई और बुनाई की मजूरी को दर का परिमाण जब बँध जायगा और कातने वाला आप अपनी कपास जमा करने लगेगा, जब करघे और चरखे से तैयार किया हुआ माल अधिक चोखा उतरने लगेगा और मामूली तौर से माल ज्यादा तैयार होने लगेगा तब बहुत ऊँचे दर्जे की किफ़ायत हो जायगी और खद्दर का भाव मिल के कपड़े से मिलाने के काबिल हो जायगा।"

यह बहुत जरूरी बात है कि कातने वाला अपनी कपास खुद इकट्ठी कर रखे। इसके महत्व का ठीक अन्दाजा इस बात से होता है कि कपड़े की तैयारी के कुल खर्च की मदों में से एक मद कपास की कीमत है जो अमेरिका के मिलों में खर्च का सैकड़ा पीछे ६८॥ भाग है, और ऊपर दिये हुए अंकों से भारतीय मिलों में सैकड़ा पीछे ५३ भाग है। उसी पुस्तक में पृ० १८८ पर लिखा है कि "भारतवर्ष में हमारे कातने वालों में भारी आबादी उन्हीं लोगों की है जो या तो आपही कपास उपजाते हैं, या कपास के खेतों में मजूरी करते हैं। कुछ लोगों को तो मजूरी

के बदले कपास ही मिलती है। जिनके जमीन है वे कपास उपजा लेते हैं।" इस में तो कोई सन्देह नहीं हो सकता, बात बिलकुल साफ़ ही है, कि इस तरह की कपास कातने वालों को मिलों की अपेक्षा कहीं सस्ती मिल सकती है। जब हर प्रान्त और हर जिले में कपास की खेती होती है, तो हर कातने वाले को अपनी कपास इकट्ठी कर रखना कौनसी कठिन बात है? आज कपास के इकट्ठे करने में, ढो कर रेल तक पहुँचाने में, रेल-द्वारा ढो कर जीनघर तक पहुँचाने में, वहां बहुत बड़ी मात्रा में बटोर रखने में, बीमा कराने में, फिर कपास के जमा रहते ही भाव के गिर जाने में, फिर इन कारणों से उत्पन्न बेकारी में, जो खर्च पड़ जाता है, वह बहुत ज्यादा है। और वह सभी खर्च उस दशा में बच जाता है कि जब गांव के कातने वाले गांव की कपास अपने अपने घर रख लेते हैं। इसी "हाथ की कताई-बुनाई"* नाम की पुस्तक में लिखा है और ठीक लिखा है कि—

"जिसने फसिल के ऊपर कपास जमा कर ली है वह आप ओट लेता है और ओटाई की मजूरी और बीज उसी की चीज हो जाती है। अच्छी कपास के बीज संग्रह करना किसान की गृहस्थी में थोड़ा फ़ायदा नहीं है। इस तरह संग्रह करके, और ओट के कातने वाला रुई के चढ़े हुए भाव के समय में अपना सूत महँगा बेचकर, ज्यादा फ़ायदा उठा सकता है। और जब भाव गिर जाय उस समय जो कुछ मेहनत करे और सूत काते, सब अपने परिवार के काम में ला सकता है।

---

* हाथ की कताई-बुनाई, सस्ता मंडल, अजमेर। पृ० १९०-१९१।

"जब कातने वाला कपास इकट्ठा करना सीख जायगा तो हाथ के कते सूत की चोखाई भी बड़े ज़ोरों से बढ़ेगी। कपास तो कातने वाले की सम्पत्ति होगी। फिर तो कातने वाला बड़ी देख-भाल रखेगा, बड़ी किफायत बरतेगा और कच्चे माल से उत्तम से उत्तम काम निकालेगा। सूत की तैयारी में वह स्वाधीन है। अपने माल का मालिक है। उसे अधिकार है कि अपने माल को अच्छे से अच्छे दामों पर वेचे। फिर तो सूत बहुत ही बारीक और बराबर बराबर वट का कतने लगेगा"

अमेरिका में जो भारी-भारी ट्रस्ट अर्थात् कम्पनियां बनी हैं, जो कच्चे माल और तैयार माल दोनों की उपज का सारा व्यवसाय अपने हाथों में रखती हैं, ऊपर दिखाई हुई बचत वास्तव में उन्हीं के प्रकार की है। जिस तरह सीधा-सादा किसान कारीगर अपनी कपास आप उपजाता है और फिर उसे अन्त में खद्दर में परिणत कर देता है, जैसी आर्थिक स्थिति इस किसान की है, उसी तरह और ठीक वैसी ही आर्थिक स्थिति उन भारी ट्रस्टों की है, जिन्होंने किसान कारीगर की एक विशाल नकल की है और कच्चे माल पर अधिकार रखने के अपने प्रचण्ड प्रयत्न का आविष्कार उन्होंने उन्हीं को देख कर किया है।

पिछली किफायत वाली सूची (उ) में सातवीं मद के ठीक होने पर बहुत से लोगों को सन्देह हो सकता है। परन्तु जिन लोगों ने इस बात का पूर्णतया गम्भीर अनुशीलन किया है कि किस प्रकार से वास्तविक स्थिति में नकद दाम और साख और उधार का कारबार पर प्रभाव पड़ता है वह अधिकांश मुझ से ही सहमत होंगे। जब तक नकद रुपये की कीमत उसी तरह घटती-बढ़ती

रहती है, जैसे झूठे बाट या झूठे नपने की कीमत, तबतक तो दरिद्र मनुष्य इतनी बुद्धि से अवश्य काम लेगा कि भरसक उससे अपने व्यावहारिक जीवन में दूर ही रहे। इस दृष्टि से गांव के भीतर ही अदला-बदली और परिवार के भीतर ही ओटाई, धुनाई, कताई से भारी मदद मिलती रहेगी। चरखा या उसके सम्बन्ध की और सामग्री के लिए ऋण लेने या सूद देने की जरूरत नहीं पड़ती। चरखे के पास जाना महाजन या साहूकार से दूर चले जाना है। जो लोग इस बात को जानते हैं कि भारतीय किसान कितने भारी ऋण के बोझ से लदा रहता है, वही इस फायदे को समझ सकते हैं। जो लोग अपने लिए आप कपड़ा बुन लेते हैं, वह लोग जितना ही मिल का साहूकारी खर्च घटा सकेंगे,—लदाई के पुरजे, बिक्री के बीजक, चेक, हुंडी और दूसरे कम्पनी कागज जिनकी इमारत बनाने और कल-पुरजे लगाने के आरंभिक खर्च में, और बड़े पैमाने पर खरीद, तैयारी और बिक्री करने में मिलों को जरूत पड़ती है, वह सब साहूकारी खर्च है, साहूकारों और महाजनों के रुपये के बल पर होता है,—उतनी ही रुकावट उस साख और उधार के कारबार में पड़ेगी जो वर्त्तमान महाजनों के निजी बेकायदा दबाव के कारण भावों का उतार-चढ़ाव कराया करता है और दीन-दुखियों का कष्ट बढ़ाया करता है ❀

❀ For a full discussion of this important point see *Wealth, Virtual Wealth and Debt*, by Frederick Soddy, F.R.S., Allen & Unwin, London, 1926.

छोटे पैमाने पर माल उपजाने के काम से होने वाली इन तमाम किफायतों और वचतों पर विचार करने से चौथे अध्याय में प्रतिपादित इस विषय का समर्थन हो जाता है कि बड़े पैमाने और वेग से चलने वाली मशीन से तभी काम चल सकता है, तभी पूरा लाभ उठाया जा सकता है, और तभी पूरा पूरा काम लिया जा सकता है, जब विक्री के लिए बहुत बड़ा बाजार मिले। छोटे छोटे, जगह्-जगह् बँटे बाजारों के लिए तो मालूम होता है कि हाथ की छोटी कलें, शिल्प-विद्या और अर्थ-शास्त्र दोनों की दृष्टि से, ठीक उतनी ही कामकाजी ठहरेंगी। और जब विशाल सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रभावों पर विचार करते हैं, तो स्थायी और ठीक सभ्यता को † स्थिर रखने वाले कम वेग से चलने वाले ही यन्त्र ठहरेंगे। जो हो; कम से कम, इस समस्या पर जितनी खोज हुई है उससे अधिक विस्तार के साथ विचार हुए बिना इन छोटे छोटे हथ-कलों की निन्दा नहीं की जा सकती। जितनी वर्त्तमान या प्रस्तावित योजनायें हैं या हो सकती हैं, उन सब में आर्थिक बुद्धि या विवेक के कांटे पर गांधी जी की योजना किसी से कम कीमत की नहीं ठहरती। यहाँ भी लार्ड रोनाल्डशे की पुस्तक से हम प्रसंगानुकूल एक अवतरण दें तो अनुचित न होगा। "पच्छहत्तर वरस के लगभग की अंग्रेजों की कोशिश वेकार गई, इसका कारण

Also his pamphlets *Cartesian Economics* and *The Inversion of Science*. Hendersons, London, 1924.

† See Freeman—*Social Decay & Regeneration* above cited, pp. 105-140.

क्या है ? यही कि अंग्रेज लोग अपने इस भ्रमात्मक विश्वास को छोड़ नहीं सकते कि हमारी संस्थायें संसार की सभी जातियों की संस्थाओं से अच्छी ही हैं।" जहाँ तक आर्थिक रीतियों और संगठनों का सम्बन्ध है, यही बात सभी पच्छाहीं राष्ट्रों के बारे में कही जा सकती है। पच्छाहीं लोग बहुधा इतने घमण्डी, आत्मश्लाघी, और बढ़ बढ़ कर बोलने वाले होते हैं कि उनके दिमाग में यह बात पैठ ही नहीं सकती कि जो हम से ज्यादा सादा जीवन बिताते हैं उनके रहन-सहन में अधिक शारीरिक, वैज्ञानिक, आर्थिक और नैतिक तथ्य हैं।

इस तरह यह बात समझ में आ जाती है कि गांधी जी जिस तरह के छोटे पैमाने पर, जगह जगह में बँटे, घने व्यवसाय का पक्ष पोषण करते हैं, उस तरह के व्यवसाय की आर्थिक शक्ति और सफल काम चलाने की अच्छी योग्यता इस बात में है कि उसमें बँधा परन्तु थोड़ा दाम लगता है, बल का खर्च भी कम है, मरम्मत का, चालू रखने का, जीर्ण हो जाने का, चलन उठ जाने का, सामग्री का और माल की स्थिति में एक दम परिवर्त्तन का भी खर्च थोड़ा है। ढुलाई और इकट्ठा कराई और जमा रखने का खर्च बिलकुल नहीं है। बेकारी का जरा भी डर नहीं है, मन और शरीर स्वस्थ और सुखी रहता है, मानवस्वभाव के अनुकूल है, नैतिक और सद्भावात्मक सुसंभावनायें हैं, स्वतंत्रता है और व्यक्ति के विकास का पूरा पूरा अवसर है।

जगह जगह में बँटे छोटे पैमाने पर होने वाले सामाजिक संगठन में भारी दोष यही फैला दीखता है कि बौद्धिक प्रोत्साहन की बहुत कमी है। तो भी सहज ही यह आशा की जा सकती

है कि अच्छी शिक्षा-पद्धति से पुस्तकों, सामयिक पत्रों तथा लेखों के प्रचार से, और आवा-जाई लिखा-पढ़ी और माल की ढुलाई के अधिक सुभीतों से यह दोष एक-दम मिटा दिया जा सकता है।

नहर काट कर कोई खेतों में जल ले जाने के बदले किसी ताल में जल ले जाय तो उसे कितना भारी मूर्ख कहेंगे। फिर ताल सुखा-सुखा कर जो उसमें फिर पानी ले जाय, उसे तो महा अपराधी समझना पड़ेगा। यह कितनी भारी मूर्खता की बात है कि रुई को भारत से ढोकर जापान, इटली या इंग्लिस्तान ले जाया जाय और वहाँ से कपड़ा बनवाकर फिर ढोकर लाया जाय और उसीके हाथ बेचा जाय जिसने कपास उपजाई थी। श्रीफोर्ड बहुत ठीक कहते हैं कि "किसी माल को खर्च करने वाले के ढाई सौ मील के भीतर ही अगर तैयार माल मिल सके तो पांच सौ मील से उसके पास तैयार माल लाना भारी अपराध है।" मिल के कपड़े की कीमत से खद्दर की कीमत का मिलान करने से तो यही लगता है कि पास ही कपड़ा बनने की अपेक्षा दूर से बनके आने में ही सुभीता है। इस माया का रहस्य तब खुलता है जब हम गहरे डूबकर पूर्णतया विचार इस बात पर करते हैं कि इस दशा में गावों की बेकारी से गाँव के समाज-संगठन के भ्रष्ट हो जाने से, और प्राचीन कृषि और उद्योग के सामंजस्य के बिगड़ जाने से राष्ट्र का कितना खर्च बढ़ गया और विदेशों को थोड़ा नफा देकर स्वराष्ट्र का कितना बड़ा घाटा हुआ। कपड़े का गाहक यद्यपि इन खर्चों का और टोटे का पता नहीं पाता, फिर भी वह उनसे होने वाले राष्ट्रीय कष्ट को भोगने में जरूर शरीक है। यह घाटा किस हद तक पहुँचा है इस बात

पर अगले किसी अध्याय में विचार किया जायगा ।* पच्छाहीं व्यवसाय-वाद के बहुत से खर्चे अपना रूप बदल कर राष्ट्र को तबाह कर रहे हैं। उनका कुछ कुछ रूप रहन-सहन के अत्यन्त बढ़े हुए खर्च के रूप में और भारी भारी करों के रूप में देख पड़ता है।

यहाँ इतना ही लिख देना काफी होगा कि भारतवर्ष में गाँव की कारीगरी को जो "अर्थ-नीति के विरुद्ध" "खर्चीला" "बे-किफायती" और "वृथा" कह कर बदनाम करता है वह अवश्य ही आज-कल की भारतीय और पच्छाहीं आर्थिक दशाओं और

---

* इंग्लिस्तान और भारतवर्ष दोनो देशों में कृषि और उद्योग के सहज सामंजस्य के दुहेरे नाश से, दोनों ओर की दुहेरी हानि किस प्रकार हुई है, इस बात को अच्छी तरह समझने के लिए पाठकों को "हाथ की कताई-बुनाई" नामक पुस्तक में यह इतिहास पढ़ना चाहिए कि भारत के कृषि और उद्योग का किस प्रकार नाश हुआ। इसके सिवा अंग्रेजी के अनेक ग्रन्थों में यह दिखाया गया है कि इस सामंजस्य के बिगाड़ से इंग्लिस्तान की ही कितनी भारी हानि हुई है। जैसे J. L. & B. Hammond's *Village Lobourer*, *The Town Labourer* *The Skilled Labourer*, Longmans Green, and *The Rise of Modern Industry*, Methuen 1926, London. इसके सिवा, सौर शक्ति का जो अपव्यय उससे होता है, और स्थान स्थान पर ही सौर शक्ति को काम करने वाले बल में परिणत करने में जो विशेष किफायत और सुभीता है उसका स्पष्टीकरण इन पुस्तकों में मिलता है, *Land Tenure and Unemployment*, by Frank Geary, Allen and Unwin, London, 1925, और *Progress and Poverty* by Henry George.

प्रवृत्तियों से किसी हद तक अनभिज्ञ है और वर्त्तमान स्थिति का पूर्ण रूप से और प्रश्न का उसके जड़ से विश्लेषण करने में असमर्थ है।

आर्थिक सिद्धान्त सारे संसार में एक ही हो सकते हैं, परन्तु जगह जगह के पारस्परिक भेद-प्रभेदों से उसके प्रयोग में और व्यक्तीकरण में स्थानीय अन्तर करने की ओर पढ़ जाने की आवश्यकता है।

सातवाँ अध्याय

बेकारी

कहते हैं * कि ईप्स्विच की सहकार-महासभा में अंग्रेजों में भारी अर्थशास्त्री गिने जानेवाले प्रोफ़ेसर मार्शल ने यों कहा था—"संसार के इतिहास में सभी व्यर्थ जाने वाली वस्तुओं में से एक इतने महत्व की व्यर्थ जाने वाली वस्तु रही है, कि सबके मुकाबले में उसे ही परम-हानि कहलाने का अधिकार है। वह क्या है ? काम करने वालों की अधिक योग्यता, जो गुप्त और अविकसित रह जाती है, बड़े और ऊँचे काम करने की शक्ति जो दबी बेकार पड़ी रह जाती है, जिसके पनपने का भी अवसर नहीं मिलता।"

आक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस ने "वर्त्तमान जगत The World of Today" ग्रंथमाला में श्री लिप्सन की जो छोटी पोथी Increased Production "बढ़ा हुआ तैयार माल" के नाम से छापी है, उसमें ग्रन्थकार कहता है—

"देश की सम्पत्ति प्रथमतः उसके निवासियों की कार्य्य-क्षमता में ही निहित होती है। जिस देश में प्राकृतिक साधनों की तो बहुतायत है, परन्तु वहाँ के निवासी सुस्त और पिछड़े हुए हैं,

---

*Quoted from *Co-operation, the Hope of the Consumer* by E. P. Harris, MacMillan, New York, 1919, p. 155.

वह देश अवश्य दरिद्र है। उससे अच्छा और समृद्ध वह देश है जिसके प्राकृतिक साधन तो घटिया हैं, परन्तु निवासी पूरे अध्यवसायी और परिश्रमी हैं। जिस किसी ढंग से श्रमी अधिक काम-काजी और उपयोगी बन सकता है, उससे राष्ट्र का मुनाफा बढ़ता है। श्रमी का कम काम-काजी और कम-उपयोगी होना वस्तुतः राष्ट्र का घाटा है, या कम मुनाफा है। इससे यह बात तो स्पष्ट ही है कि किसी जाति को इस बात में सुभीता नहीं हो सकता कि उसके लोग,—अपने दोष से नहीं—किसी तरह सम्पति उपजाने का अपना बल खो दें। इस समस्या के इस पक्ष को भी न भूलना चाहिए कि सबसे बड़ी संख्या का सबसे अधिक भला होना चाहिए। और न यह बात भूलनी चाहिए कि अभाव या दरिद्रता का भय माल उपजाने के काम में श्रम की सहकारिता के लिए बाधक ठहरता है।"

स्वित्सरलैंड की राजधानी जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय मजूर कार्यालय है। उसके एक सदस्य श्री जे० आर० बेलरबी बेकारी पर लिखी हुई अपनी पोथी में कहते हैं—

"बेकारी एक विपत्ति है। व्यावसायिक संगठन में यदि एक साधन को ही ठीक रीति से काम में लाकर किसी प्रकार इस विपत्ति में कमी लाई जा सके, तो जितने लोगों का इससे सरो-कार है सबका तात्कालिक कर्त्तव्य यही समझा जायगा कि जभी हो सके इस साधन को पुष्ट करें और उसे काम में लाने के लिए सर्वोत्तम ढंग और परख का निर्णय करें।"

श्री मारिस एल० कुक अमेरिका के एक प्रसिद्ध इंजिनियर

(शिल्पविद्या-विशारद) हैं और टेलर-सासैटी के सभापति हैं। उन्होंने हाल में ही यह लिखा है *...........

"शक्ति-सम्पत्ति के व्यर्थ क्षय होने का सबसे बड़ा अकेला द्वार है बेकारी।...........

"कल-पुरजों के प्रचार से, कल-बल के अधिक प्रयोग से, तैयार माल का दर्जा ऊंचा कर देने से, और एक-न-एक तरह के शिल्पीय सुधार से, अच्छी और बड़ी मात्रा में माल की तैयारी का प्रतिपादन करना यों सुनने में बड़ा अच्छा लगता है। हमें समझाया जाता है कि जितने में पहले एक जोड़ा जूता बनता था उतने में ही अब दो जोड़ा बनता है, इससे समाज को अवश्य लाभ है। किन्तु जब-तक हम यह जिम्मेवरी न ले सकें कि हर स्त्री-पुरुष को राष्ट्र के लिए नित्य बढ़ती मात्रा में माल तैयार करने में अपने अपने हिस्से का काम कर डालने की पूरी रक्षा रहेगी, तबतक कदम कदम पर बेकारी के प्रत्यक्ष पिशाच के डर से हमारा जोश थमा रहना चाहिए। राष्ट्र की सम्पत्ति की बरबादी से बचने की समस्या को जबतक हम "बेकारी" के वेष में मूर्त्तिमती नहीं देखते, तबतक हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह मजूर जिनपर वर्त्तमान औद्योगिक परिस्थिति का अनिष्ट प्रभाव पड़ रहा है, पूरे हृदय से उसका समर्थन करना तो दूर रहा, उसपर थोड़ा सा ध्यान भी देंगे।...... परन्तु जो कुछ हो, आर्थिक और राष्ट्रीय दोनों दृष्टियों से देखने पर, मजूर और मालिक सबकी यही एक जरूरत मालूम होती

---

*See his article on "Waste through Unemployment" in *The American Federationist*, June, 1927, p. 700.

है कि बेकारी के संकट से रक्षा के उपाय ढूँढ़ने के बदले वह उपाय करें जिससे कि प्रत्येक व्यक्ति बराबर काम में लगा रहे।' ❀

हमारा तो ख्याल है कि कोई इन प्रस्तावों का विरोध न करेगा। दूसरे अध्याय और परिशिष्ठ (ख) में जैसा दिखाया गया है, भारतवर्ष में फैली हुई बेकारी जिस हद तक पहुँची हुई है उसके विचार से, उससे गाँधी जी के कार्यक्रम का सम्बन्ध समझना बहुत जरूरी है।

दूसरे अध्याय में हम यह देख चुके हैं कि सन् १९२१ की गणना के अनुसार चराई और खेती के काम में पूरे तौर से लगे हुए वस्तुतः १० करोड़ ७० लाख के लगभग काम करने वाले हैं। यह भी हम देख चुके हैं कि कम से कम बरस के तीन महीने तक वह बिलकुल बेकार रहते हैं। यह बात भी ध्यान में रहे कि किसी प्रकार की औद्योगिक बेकारी के अंक इसमें शामिल नहीं हैं। यह बेकारी के अंक केवल खेती के हैं। शहर के व्यवसायों में जो शक्ति सम्पत्ति की बरबादियाँ होती हैं, उनकी कुछ मदें यह हैं—बीच बीच की बेकारी, पूरा काम न लेना या पूरे तौर से काम में लगे न रहना, कभी कभी की बेकारी, दौरे की तरह आने वाली बेकारी, काम पूरा हो जाने पर बेकारी, मजूरी के झगड़ों की बेकारी, खोये समय, हड़ताल, कामबन्दी, गैरहाजिरी, ऐसी घटनाओं या रोगों के कारण बेकारी जिनसे बचना अच्छी तरह संभव था। इन मदों में से एक भी ऊपर की बताई तीन मास की बेकारी में शामिल नहीं है।

❀See also Stuart Chase: *The Tragedy of Waste*, Chapter VIII, MacMillan, New York, 1926.

दस करोड़ सत्तर लाख संख्या भारत की सारी आबादी की एक तिहाई है। भारत में सब कामों को मिलाकर जितने कुल वास्तविक काम करने वाले हैं, उनकी पूरी संख्या को सौ मानें तो १९२१ की गणना के अनुसार खेती में काम करने वाले बहत्तर ठहरते हैं। संयुक्त-राज्यों की सारी आबादी जितनी है, उससे यह कुछ ही कम है।

महा-ब्रिटेन में जून सन् १९२१ में काम सबसे अधिक घटा था और कोयले के मजूरों की हड़ताल थी। उसी समय वहाँ सबसे अधिक बेकारी थी। बेकारों की संख्या तब थी केवल २१लाख ७१ हजार २८८। यह अंक अटकल से महा-ब्रिटेन की कुल आबादी का बीसवाँ भाग ठहरता है। ब्रिटेन के राजपुरुषों को घोर संकट में डाल देने के लिए इतना ही काफी हो गया। जो कहीं बीसवें अंश के बदले तिहाई से अधिक आबादी एक समय पर, या द्वादशांश से अधिक आबादी निरन्तर बेकार रहती तो उनकी क्या दशा होती? फिर यदि बराबर साल ब साल यही दुर्दशा चलती रहती, तो?

यद्यपि चीन के लिए हमें कोई अंक उपलब्ध नहीं हैं, तथापि इस कथन में हम कोई झूठ या अत्युक्ति नहीं समझते और निःसंकोच कह सकते हैं कि संसार में किसी देश में सदैव, निरन्तर, उतनी बेकारी नहीं रहती जितनी कि भारतवर्ष में रहती है।

पच्छाँह में माल तैयार करने वाले पूंजीपति इस बात पर चेत रहे हैं कि कलपुरजों के बेकार पड़े रहने में कितना भारी घाटा और जोखिम है। वह खर्च का हिसाब करने की ऐसी पद्धतियां निकाल रहे हैं जिनसे हानि के विस्तार का पता लग सके,

और वह इस बात का अनुशीलन कर रहे हैं कि उसे किस मद में ले जाने में सुभीता होगा। वह इस पर विचार कर रहे हैं कि तैयार माल की बिक्री के दाम पर उसे लगावें और इस तरह प्रबन्धक की त्रुटियों की हानि गाहक के सिर पर थोपें, और साथ ही प्रबन्ध-विभाग को चक्कर में डाल दें कि क्या कीमतें रखनी चाहिए और किस नीति पर बिक्री होनी चाहिए। अथवा, मालिक की अलग हानि की मद में उसे दिखावें और फिर उसे विशेष उपायों से घटाने की कोशिश करें, परन्तु गाहक से वह नुक़-सान न भरवावें।

उसी तरह इस समय भारतीय राष्ट्र को भी चाहिए कि इस बात को समझने लगे कि हमारे देश के बेकार लोगों के खर्च अलग क्या हैं, क्या घाटा हो रहा है, और इस विचार से उचित और विवेकमय चिकित्सा तक पहुँचें।

देहात की इतनी भारी बेकारी से भारतीय राष्ट्र का कितना भारी घाटा होता है?

काम करने वाले किसानों की औसत मजूरी हम केवल तीन आना रोज ही रख लेते हैं। यह एक कसी हुई अटकल ही है, परन्तु निराधार नहीं है, रशब्रुक विलियम्स ने "सन् १९२३-२४ में भारत" (India in 1923-24) नामक पुस्तक में बम्बई की मजूरी की रिपोर्ट में जो अंक दिये हैं उनके आधार पर है। साथ ही दुर्भिक्ष-काल में सरकारी मजूरी की दर दो आना रोज है, और प्रस्तावना में दी हुई व्यक्ति पीछे आमदनी की दर से अन्दाजा लगाया गया है। मजूरी की इस दर से अर्थात् तीन आने रोज के हिसाब से दस करोड़ सत्तर लाख प्राणी बेकारी के

नब्बे दिनों में, काम करके, एक अरब, अस्सी करोड़ और सवा छप्पन लाख रुपये कमा लेते। बर्म्मा को छोड़कर भारत के किसान मात्र की बेकारी से इतनी भारी हानि हर साल हो रही है। यदि इस घाटे को सारी आबादी में बांट दिया जाय तो राष्ट्र के प्रति मनुष्य को ५।≡) की साल में हानि होती है, अथवा हर प्राणी को ५।≡) महसूल देना पड़ता है।*

अब इस रकम का मिलान कुछ और खर्चों और मदों से कीजिए जिनका भारतीय राष्ट्र की समृद्धि से सम्बन्ध है, और जो कि "१९२५-२६ में भारत" और "१९२३-२४ के इंडियन इअर बुक" नामक पुस्तकों से यहाँ दिये जाते हैं—

मालगुज़ारी मिलाकर कुल कर	१९२१-२२	१,२५,१३,४८,९९७)
केन्द्रस्थ सरकार की कुल आमदनी	१९२४-२५	१,३८,०३,६२,२४४)
आमदनी पर कुल खर्च जो लगाया गया	१९२४-२५	१,३२,३५,६६,५४६)
केन्द्रीय और प्रान्तीय दोनों मिलाकर राष्ट्र-ऋण के ऊपर का कुल सूद जो १९२१-२२ में दिया गया।		३०,९६,९६,६५५)
भारतवर्ष और इंग्लिस्तान दोनो में लगने वाला सम्पूर्ण भारतीय सैनिक व्यय १९२१-२२		७७,८७,९८,३४०)
शिक्षा पर कुल खर्च १९२१-२२		१८,३७,५२,९६९)

* यह याद रहे कि दूधपीते बच्चे से लेकर मरते हुए बूढ़े तक पर यह कर लगा हुआ है। एक घर में यदि पांच प्राणी हों, तो उस परिवार को राष्ट्रीय हानि २७≡) वार्षिक उठाना पड़ती है।

उल्थाकार

दुर्भिक्ष निवारण में कुल सरकारी खर्च, १९२१-२२	८८,३२,०२६)
जितने का पटसन का माल भारत में तैयार हुआ, १९२१-२२	४०,४९,४०,०००)
तैयार सूती माल का कुल आयात १९२४-२५	८२,००,००,०००)
कच्ची रुई का कुल निर्यात १९२४-२५	९१,००,००,०००)
सूती तय्यार माल का कुल निर्यात १९२४-२५	६,८६,००,०००)
सम्पूर्ण सिंचाई और खेवाई के काम में, उत्पादक और अनुत्पादक, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष मजूरी आदि का कुल खर्च १९२१-२२	३,८३,१६,६४३)

इस प्रकार किसानों की बेकारी का वार्षिक दाम या घाटा ऊपर दी हुई भारी भारी राष्ट्रीय आय या व्यय की मदों की अपेक्षा भारी है। केन्द्रीय सरकार की आमदनी की रकम ही इन मदों में सबसे भारी है, जो एक अरब अड़तीस करोड़ से ऊपर है। परन्तु किसानों की बेकारी का खर्च राष्ट्र के ऊपर एक अरब अस्सी करोड़ से भी ऊपर है। लगभग बयालीस करोड़ अधिक! इसके साथ यह भी याद रहे कि बेकारी की असली कीमत शायद ऊपर की अटकल से कहीं ज्यादा है, क्योंकि यह लोग काम करके जो माल पैदा करते उसकी कीमत उनकी मजूरी मात्र से कहीं ज्यादा होती। इसके सिवा आज (१९२७) कई प्रान्तों में वास्तव में किसानों की मजूरी की दर मर्दों के लिए ।—) से

॥) रोज है और औरतों के लिए ।) से ।=) रोज तक है। उत्तर पक्ष से लेशमात्र अन्याय न हो, इसीलिए जान-बूझ कर मजूरी की दर हमने बहुत थोड़ी रखी।

परन्तु यदि इतनी मजूरी भी अत्यन्त अधिक जँचती है, तो हम मान लेते हैं कि उन्हें उनका साधारण काम न दिया जाय। उन्हें केवल कातने का काम दिया जाना माना जाय जिससे उन्हें केवल एक आना रोज मजूरी मिल सकेगी। इस हिसाब से उनकी बेकारी की कीमत केवल तिहाई अर्थात् साठ करोड़ पौने उन्नीस लाख वार्षिक रह जाती है। अब इस रकम का ऊपर दी हुई मदों से मिलान कीजिए। यह रकम सन् १९२१-२२ के संपूर्ण पटसन के तैयार माल की कीमत से ज्यादा ठहरती है। या, यही मान लीजिए कि इन बेकारों में केवल स्त्रियां * ही कातने के काम में लगाई जा सकीं। तो इस आधार को लेकर भी साल में बेकारी की कीमत उन्नीस करोड़ छत्तीस लाख के लगभग आती है। ऊपर के अंकों से फिर मिलान कीजिए तो सन् १९२१-२२ में शिक्षा में जो सम्पूर्ण व्यय हुआ उसकी रकम से बेकारी की यह कीमत ज्यादा ठहरती है।

चाहे जिस ढंग पर आप बेकारी की कीमत की अटकल करें, यह तो बिलकुल साफ़ है कि बेकारी के बोझ से भारतीय राष्ट्र लड़खडा रहा है, और केवल भारत पर ही यह बोझ नहीं है। निश्चय ही संसार पर है।

बेकारी की कीमत के इन अंकों का हम विशेष प्रयोग करने

---

* ब्रह्म-देश को छोड़कर गणना के अनुसार इस कोटि में स्त्रियों की संख्या ३,४४,१७,००० है।

के लिए इस विचार को आगे बढ़ावेंगे। है तो यह केवल काल्पनिक, परन्तु प्रस्तुत वाद में उसकी एक हद तक उपयोगिता है।

यद्यपि इतिहास से यह सिद्ध है कि ढाई सौ बरस पहले भारत में घर घर चरखा चलता था और ब्रिटिश कूटनीति † ने उसे जान बूझ कर विधि-पूर्वक बन्द करा दिया, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि आज की सारी बेकारी पूर्ण-रूप से उसी कारण से है। न तो किसी विशेष अंश का विशेष कारण ही बताया जा सकता है। तो भी हम कह सकते हैं कि विदेशी कपड़ों के आयात से किसानों का पहले का फालतू घरेलू काम छिन गया और यदि मान लें कि एक चौथाई ही बेकार अब कातने लगेंगे तो इस विभाग की बेकारी का बोझ तो बहुत-कुछ हलका हो जायगा। और हम यह भी कह सकते हैं कि जब तक कि भारत में बराबर विदेशी कपड़े का आना जारी है, तब तक यह हलकापन होना असंभव है। अर्थात् यह बात तब तक हो नहीं सकती जब तक विदेशी कपड़े की खरीदारी बहुत-कुछ घट न जाय। वाद के लिए, हम कह सकते हैं कि इस विशेष दृष्टि से विदेशी कपड़े की खरीदारी आजकल के किसानों की बेकारी के एक चौथाई अंश का कारण जरूर है। सन् १९२५ में जितना कुल कपड़ा भारत में खर्च हुआ है, या खरीदा गया है उसके एक तिहाई से अधिक विदेशों का माल था।

Manchester Guardian नामक मैंचेस्टर के एक पत्र

---

† See historians cited in notes in Chapters IV and V.

के व्यापारी संस्करण के एक लेखक ने अटकल लगाई है कि भारतवर्ष में कपड़े का औसत ख़र्च आदमी पीछे तेरह गज ❋ है। गांधी जी की अटकल है कि आदमी पीछे चौदह गज कपड़ा लगता है। अधिक संकुचित निष्कर्ष निकालने के लिए हम बड़े ही अंक को लेते हैं। भारतवर्ष की कुल आबादी हम इकतीस करोड़ नव्वे लाख मान लेते हैं। इस हिसाब से भारतवर्ष में साल भर में कपड़े का कुल खर्च ४ अरब, ४६ करोड़, ६० लाख गज ठहरता है † वर्तमान बेकार किसानों की कुल-संख्या की चौथाई दो करोड़ साढ़े सड़सठ लाख की संख्या ठहरती है। (यह छोटा अंश इसलिए चुन लिया गया है कि कहीं भूल भी हो तो निष्कर्ष उदार न होने पावे, संकुचित ही रहे) तीन आने रोज की मजूरी की दर से साल में तीन मास की बेकारी की उनकी कीमत ४५ करोड़, १४ लाख, ६ हजार रुपये होते हैं। इस घाटे को जब हम कपड़े की कुल खपत का भाग देते हैं तो −)॥। (सात पैसे) ठहरते हैं। ऊपर की कल्पनाओं के आधार पर हम कह सकते हैं, कि जितना कपड़ा खरीदा जाता है उसके हर गज पर भारतीय किसानों की बेकारी का खर्च सात पैसा पड़ता है। इसके बदले यदि हम ४५ करोड़, १४ लाख, ६ हजार की रकम को केवल

❋ See Lahore *Tribune*, April 17, 1927. p. 8.

† In the *Memorandum* on *Cotton International Economic Conference*, League of Nations, Geneva 1927, p. 17, (published by Constable, Lodon) the average annual consumption for the period 1922-1926 is estimated at 4,328 Million Yards.

विदेशी कपड़ों के गजों की संख्या का भाग दें, तो गज पीछे बेकारी का खर्च ।=)२ छः आने दो पाई पड़ता है ।

अब हम यह कह सकते हैं कि भारतवर्ष में आज-कल के बेकार किसानों में से जब चौथाई हाथ से कातने बुनने लग जायँगे तब, जितना विदेशी कपड़ा भारत में खरीदा जाता है, उसमें से, अधिक नहीं तो कम से कम, सात पैसे गज पीछे घटाया जा सकेगा ।

इस लिए खद्दर और मिल के कपड़े की तैयारी के खर्च का मुकाबले का मिलान तभी ठीक ठीक हो सकेगा, जब सात पैसे से लेकर ।≈)२ तक या तो मिल के कपड़े की लागत कीमत पर बढ़ा दिया जाय या खद्दर की लागत कीमत से घटा दिया जाय। तीसरे और चौथे अध्यायों में मिल के कपड़े और खद्दर के बीच भाव की होड़ पर विचार करती बेर, इस बेकारी की कीमत को भी लगाना चाहिए ।

फिर, मान लीजिए कि हम इस बेकारी की समस्या पर साम्राज्य के सम्बन्ध से विचार करें। भला ब्रिटेन पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ?

पहले जिस रुई की रिपोर्ट का हम हवाला दे चुके हैं उसी के अनुसार सन् १९२५ में ब्रिटेन के कुल सूती तैयार माल का ३२ प्रति सैकड़ा से कुछ अधिक भारत को भेजा गया और भारतवर्ष में जितना कुल मिल का कपड़ा उस साल खर्च हुआ उसका ४५ प्रति सैकड़ा से ऊपर ब्रिटेन से भारत में आया। हमने यह मान लिया है कि किसानों की बेकारी का बहुत अंश उस समय मिट जायगा जब मिलों से—चाहे देशी हों चाहे विदेशी कपड़ा

खरीदने के बदले किसान लोग अपना सारा कपड़ा खुद बना लेंगे। अगर यह सच है तो थोड़ी-बहुत रुकावट के साथ परन्तु ईमानदारी से हम यह कह सकते हैं कि ब्रिटेन के लगभग एक तिहाई कपड़े की मिलों के काम करने वाले सैकड़ा पीछे लगभग तीस के भारतीय बेकारों की बदौलत जीते थे। उसी रिपोर्ट के अनुसार इसका यह अर्थ निकलेगा कि तीन करोड़ बीस लाख भारतीयों को बेकार रखकर एक लाख चौरासी हजार ब्रिटिश काम करने वालों को रोटी दी जाती थी। कुल साम्राज्य को एक दृष्टि से देखते हुए क्या यह साम्राज्य-शिल्प के अनुसार समुचित कार्रवाई समझी जायगी? किसी बुद्धिमान् कारखाने के मैनेजर को अगर पता लग जाय कि मेरे कारखाने के एक भाग की थोड़ी-सी कलों को चलाने के लिए दूसरे भाग की बहुत-सी कलों को रोक देना या बेकार कर देना पड़ा है, तो क्या वह ऐसी स्थिति जारी रखेगा? उसके बढ़ते हुए खर्च से तुरन्त उसके कान खड़े हो जायँगे, वह सँभल जायगा।

उसी रिपोर्ट के अनुसार सन् १९२५ की ही मजूरी की दर से १ लाख ८४ हजार मजूरों की कमाई कुल २३ करोड़ रुपये होंगे। लेकिन तीन करोड़ बीस लाख भारतीयों की कमाई, अगर वह काम में लगाये जाते तो तीन आने रोज की दर से ५.४ करोड़ रुपये होते।

अब विचार कीजिए कि इन दोनों समूहों में से कौन सब से अधिक निहित शक्तिवाला बाजार अथवा सबसे अधिक निहित बलशाली ग्राहक है? यदि किसी तरह धीरे धीरे छोटे समूह के काम और तैयार माल में कुछ परिवर्त्तन किया जा सकता, या उनके तैयार माल को ऐसे काम में लाया जाता कि

दूसरी जगह उससे बेकारी न होती, तो इसका यह सुफल न होता कि सारे साम्राज्य की समृद्धि बढ़ जाती ? पिछले पाँच बरस जो लंकाशहर की यह शिकायत रही है कि मजूरों को कम समय तक काम में लगाया जाता है या काम कम लिया जा सका है, वह क्या अंशतः इस कारण नहीं है कि भारत के किसानों में बेकारी है और इसी से उनकी खरीदने की ताकत घट गई है ? क्या इस कुल बेकारी के कारण सारे साम्राज्य पर, बल्कि सारे संसार पर फालतू खर्च का बोझ नहीं पड़ रहा है ?

निश्चय ही जब कि खरीदने की ताकत वाला विचार सारे संसार पर लगाया जाता है, यह बात तो लगभग स्पष्ट ही हो जाती है कि यह नीति कि एक देश दूसरे देश के लोगों को बेकार रखकर अपने देश वालों को काम और कमाई का मौका दे, आत्मघात की नीति है। देवदत्त को बेकार रखकर हम गोपाल को काम देते और माल तैयार कराते हैं कि देवदत्त खरीदे, परन्तु देवदत्त निठल्ला बैठा था, कुछ कमाई की हो तब तो खरीदेगा ? हम माल की बिक्री से ही तो गोपाल को आगे मजूरी देते; अब काम न गोपाल को दे सकते हैं, न देवदत्त को ? इस तरह अहमद की पगड़ी महमूद के सिर रखने से आगे काम न चलेगा। एक समूह जब कष्ट उठाता है, दूसरे को भी वही कष्ट उठाना पड़ेगा। इससे यही प्रकट होता है कि सबसे अधिक सुभीते का और बुद्धिमत्ता का प्रबन्ध यह होगा कि उद्योग-धंधे जगह-जगह बँट जायँ, जिसमें तुरन्त एक ही मनुष्य बहुत बड़ी रकम कमा न सके, बल्कि बराबर निरन्तर सारे संसार में सारे समूह काम में लगे रहें, एक भी समूह बेकार न रहे। इस नतीजे पर पहुँचने

के लिए हर देश को जीवन की दो बड़ी आवश्यकताओं के संबंध में, अर्थात् खाने और कपड़े के लिए वर्त्तमान-काल की अपेक्षा अधिक स्वावलंबी हो जाना पड़ेगा। कपड़े के सम्बन्ध में तो यह पद्धति आरंभ हो चुकी है और काम कर रही है, क्योंकि संसार के सूती माल का व्यापार उतार पर है।

कपड़े के सम्बन्ध में यह बात समझने लायक है कि संसार भर की मिलों में रुई के सब तरह के काम करने वालों की कुल संख्या केवल पैंतीस लाख है।* पाठक इस छोटी-सी संख्या का मिलान करें भारत और चीन के उन करोड़ों की संख्या से जो अपना कपड़ा आप बना सकते हैं और इस तरह अपनी खरीदने की ताकत को बढ़ा सकते हैं, और यह खरीदारी वह अपनी मन चाही वस्तु की करेंगे। इस सम्बन्ध में जो और भी परिणाम निकलते हैं उन पर भी विचार करना कम मनोरंजक नहीं है।

पच्छाहीं एक विधि से काम लेते हैं जिसे वह "पिछड़ी हुई जातियों को सभ्य बनाना" कहते हैं। यह क्या है ? वह इन तथा कथित "पिछड़ी जातियों" को अपनी जरूरतें बढ़ाने पर और पच्छाह की बनी चीजों के खरीदने पर राजी कर लेते हैं। यह हम कह सकते हैं कि जिस हद तक इस विधि का यह फल होता है कि वह "पिछड़ी जातियां" अपने यहां की सौर शक्ति की वार्षिक आमदनी को काम में नहीं ला सकतीं उस हद तक तो यह विधि संसार को भारी हानि पहुँचाती है, और भारी आर्थिक भूल है। उस भारी हानि का एक लक्षण बेकारी तो अवश्य ही है।

---

* See Cotton Memorandum above cited.

संसार-व्यापी समस्या की दृष्टि से देखा जाय तो विविध राष्ट्रों के बेकारों के समूह एक प्रकार के शून्य देश हैं जिनके होने से राष्ट्रीय और अन्योन्यराष्ट्रीय सम्बन्ध के बड़े महत्व के चाप और प्रतिचाप उत्पन्न होते हैं। करोड़ों मनुष्यों की योग्यता का निष्फल जाना, उनकी दुर्बलतायें, उनकी जोखिम की चिन्तायें और भविष्य के भय, सब का रूपान्तर अर्थ-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों में किस प्रकार होता है ? संसार के बाजारों के लिए राष्ट्रों में परस्पर चढ़ा-ऊपरी होती है, खरीदने का बल कहीं बढ़ता है कहीं घटता है, माल उपजाने का बल कहीं घटता है कहीं बढ़ता है। संसार में अन्न और कच्चा माल कहीं मिलता और कहीं नहीं मिलता, कहीं फालतू खर्च का बोझा बढ़ जाता है । जोखिम घाटा, नफ़ा, सभी अर्थ-शास्त्रीय रूपान्तर हैं। सार्वजनिक स्वास्थ्य की दशा में, रोगों के केन्द्र इत्यादि बड़े महत्व की स्थितियां इनसे उत्पन्न होती हैं। सामाजिक असन्तोष के रूप में इनका प्रभाव जल-स्थल सेनाओं और राज्य-व्यवस्था की स्थिरता पर भी पड़ जाता है।

इसके प्रभाव इतने दूरगामी होते हैं कि हम यह सहज ही कह सकते हैं कि यदि वस्तुतः ठोस-रीति से सदा के लिए बेकारी घटाई जा सके, तो पहले-पहल जो देश इस काम में सफल होगा वह केवल अपनी राज्य-व्यवस्था की ही नहीं, बल्कि अपने संम्पूर्ण धर्म्म वा सभ्यता की स्थिरता की नींव रक्खेगा।

बेकारी के बहुत से कारण लोगों ने बताये हैं। उनमें से कुछ ये हैं—धरती का इजारा या भूमि पर अधिकार के दोष, धरती के स्वामित्व का टुकड़ों में बँटना, पूँजी-वाद, वाणिज्यवाद, आबादी

का अत्यन्त बढ़ जाना, सिक्कों का दोषयुक्त चलन, व्यापार-चक्र, आय वा खरीदारी के बल का विषम-रीति से बँटना, कलों का प्रचार, ऋतु, इत्यादि. भारतीय स्थिति में संभवतः यह सभी कारण काम कर रहे हैं।

जब कि गांधीजी के आन्दोलन का वास्तविक और मूल उद्देश्य विशेष-रूप से यही रहा है कि वर्त्तमान बेकारी और दरिद्रता मिटे, और इसी इष्ट को लेकर वह बराबर उसकी उपयोगिता पर जोर देते रहे हैं, तो यह संभवतः अच्छा ही होगा कि उनके जो विशेष दावे हैं, उनकी हम परीक्षा करें।

खद्दर-आन्दोलन तो ऊपर बताये बेकारी के अनेक कारणों को छूने की भी कोशिश नहीं करता। यह तो साफ है, कि भूमि के अधिकार वाली समस्या ऐसी कठिन गढ़ी है कि सामने के वार से सर नहीं हो सकती। अत्यन्त बढ़ी हुई आबादी ऐसा रोग है कि उसका भी सीधा इलाज नहीं हो सकता। परन्तु, यद्यपि खद्दर के आन्दोलन में समाज-वाद का लेश भी नहीं है तो भी वह प्रत्यक्ष वा अ-प्रत्यक्ष-रूप से बेकारी के अधिकांश कारणों तक पहुँचता ही है, और उनका सुधार बिलकुल जड़ से करा देता है। परन्तु ऐसे ढंग से यह सब कुछ होता है जो भारतीय विशाल जनता की मानसिक प्रवृत्तियों और सामाजिक और आर्थिक प्रकृतियों के पूर्णतया अनुकूल है।

आजकल के कल-पूँजी वाले व्यवसाय में माल उपजाने वाला खपाने वाले से इतनी दूर होता है कि आये दिन बाजार में माल बरबस ही जरूरत से ज्यादा बढ़ जाता है, या एक-दम घटकर अलभ्य हो जाता है, और इस कारण भावों में भारी चढ़ाव उतार

हुआ करता है। इसीके साथ-साथ एक और कठिनाई भी होती है कि व्यवसाय ऐसे साहूकारों या रुपये वालों की मुट्ठी में रहता है, जो माल के उपज के शिल्पीय ढंग से बिलकुल कोरे होते हैं और अपने पड़ोस वा वर्ग के बाहर के लोगों की जरूरतों, और जरूरत के फेरफार, और रहन-सहन के ढंग भी बिलकुल नहीं जानते, और जो माल बनाने के बदले रुपये बनाने की फ़िक्र में ज्यादा रहते हैं। यह कठिनाई भुगतनी ही पड़ती है।

चरखा इन दोनों कठिनाइयों को मिटवा देता है। माल तैयार करने वाला गाहक का पड़ोसी होता है। साहूकार के बीच में पड़ने का काम ही नहीं है। पच्छाहीं ढँग में ऐसा कोई सुभीता नहीं है।

श्री जे० ए० हाबसन कहते हैं कि बेकारी का एक कारण यह भी है कि आप के रुपये का बुरी तरह से बँटवारा होता है। जहां तक इस दोष का सम्बन्ध है, इसे भी प्रत्यक्ष और ठोस-रीति से चरखा घटा देता है। परन्तु उसी हिसाब से घटाता है जितना कि एक आदमी या एक परिवार अपने सारे खर्च में से अपने कपड़े पर खर्च करता है। एक बात और है। अन्न के खेतों के काटने का जो समय होता है वही समय जहाँ जहाँ कपास के लोढ़ने का नहीं होता, वहां खेत पर ऐसे समय में किसान को काम मिलता है जब कि वह और तरह पर बेकार रहता। इस तरह ऋतु-जन्य बेकारी भी मिटती है।

कहा जाता है कि कल से बेकारी का फैलना भ्रम ही है। कल से तो ज्यादा आदमियों को काम मिलता है। यह बात उन देशों के लिए सच है जहाँ ईंधन या जल-बल का खूब तेजी से और बिना रुकावट के विकास होता रहता है। जब कल चलाई

जाती हैं, तब बल का बढ़ता हुआ प्रयोग बेकारी न होने देने के लिए बहुत जरूरी है। पच्छाँह और जापान में बड़ी तेजी से कल का प्रचार होना और भारत में कुछ सुस्ती से उसका विकास होना निश्चय ही थोड़ी-बहुत भारतीय बेकारी का कारण ज़रूर है।

चरखे और करघे से बिलकुल सीधे मनुष्य-जाति की एक पहली जरूरत पूरी होती है। बेकार आदमी और उसके परिवार के लिए कपड़ा एक जरूरत तो पूरी करता ही है; पर इतना ही नहीं। कपड़ा तो ऐसी चीज़ है कि उसके लिए साल के तीन सौ पैंसठों दिन बाजार खुला है। भारत में कच्चा माल अर्थात् कपास तो प्रायः हर जिले में होती है। जिन औजारों का काम लगता है वह भी बहुत सस्ते हैं और सहज ही हर गाँव में बात की बात में बन सकते हैं। काम तो सीख लेना बहुत सहज है। अपने आप अभ्यास करके आदमी होशियार हो सकता है और सच तो यह है कि लाखों आदमी ऐसे हैं जो थोड़ा-बहुत, या अच्छी तरह इस कला में निपुण है।

बेकारी चाहे कैसी ही हो, थोड़ी हो या बहुत, कुछ काल की हो या बहुत दिनों की, दुर्भिक्ष के कारण हो, या बाढ़ के कारण हो, शरीर की असमर्थता से हो या विधवापन के कारण हो, या सामाजिक स्थिति से हो, या रोजगार या रुपये के घटने के कारण या हड़ताल या काम-बन्दी के कारण हो, ओटाई, धुनाई, कताई ऐसे काम हैं जिनसे सभी तरह की बेकारी मिट सकती है। स्त्री-पुरुष जो चाहे सहज ही सीख सकता है; उसका मामूली रोज-गार चाहे जो और जिस तरह का हो। यह काम अकेले या कई मिलकर अपने घर या बाहर सब जगह सहज ही किया जा

सकता है। किसी ख़ास इमारत की जरूरत नहीं है। जिस संग-ठन की जरूरत है न वह बड़ा ही होगा, न झंझटवाला होगा और न खर्चीला होगा। न इसके लिए कानून बनने की जरूरत है, न किसी और तरह की सरकारी मदद दरकार है। जिस पैमाने पर चाहो उसी पैमाने पर यह तुरन्त काम में लाया जा सकता है।

इस तरह के काम से न केवल आर्थिक कष्ट मिटता है बल्कि काम ही इस ढंग का है कि उलटे बेकारी के मानसिक और नैतिक प्रभाव भी मिट जाते हैं। यह काम आदि से अन्ततक स्वाभि-मानी काम है।

यह काम इन गुणों और लाभों का अधिकारी ही नहीं है, बल्कि बहुत कठिन परिस्थियों में असंख्य अवसरों पर इसने इन लाभों और गुणों को परख की कसौटी पर सिद्ध भी कर दिखाया है।

सन् १९२०-२१ में अहमदनगर के पास मीरी में, सन् १९२२ में आन्ध्र देश के करनूल जिले में, सन् १९२४ में कोयम्बतूर में, सन् १९२३-२४ में उत्तरी बंगाल में अँतरई में, सन् १९२५ में तामिलनाड़ के सेलम जिले में पुडुयालयम् में, सन् १९२५ में उत्कल प्रान्त में और कोयम्बतूर जिले के मोरत्तुपालयम स्थान में—दुर्भित्त के समय में संकट काटने में चरखा सफल सहायक हुआ है। सन् १९२४ में दत्तिनकनारा में, सन १९२२ में बंगाल के हुगली जिले में दुआदोरेडा स्थान में, सन् १९२२-२३ में उत्तरी बंगाल के राजशाही और बोगड़ा जिलों में भी बाढ़ की विपत्ति में चरखा सफल सहायक हुआ है। सन् १९२३ में अहमदाबाद की मिलों के हड़ताली मजूरों की सहायता के लिए

सूत की मिलों की मजूर-सभाओं ने चरखे से ही काम लिया है।*
इन सब उदाहरणों में काम स्वेच्छा-संगठन से ही हुआ है।

विस्तार से मिलान करना तो कठिन होगा, लेकिन इतना तो बहुत-कुछ निश्चय के साथ कहा जा सकता है कि सरकारी सहायता के कामों से, बेकारी के बीमों से या सहायक कोषों से जिन की परीक्षा पच्छाँह के देशों में हो चुकी है, † मुकाबला किया जाय तो इस तरह की सहायता के काम, चाहे सब मिलाकर जोड़ा जाय, चाहे आदमी पीछे हिसाब लगाया जाय, अत्यन्त कम खर्चीले, बहुत सस्ते और अधिक लचकीले, और सदा के लिए टिंकाऊ उपकार करने वाले हुए हैं।

पहले-पहल सुनने में युरोपीय कानों को चाहे यह प्रस्ताव कितना ही ऊटपटांग जँचे, इस पुस्तक के लेखक को तो ऐसा कोई कारण समझ में नहीं आता कि भारत की तरह और अनेक

---

* See issues of *Yong India* for May 11, 1921; October 5, 1922; May and June 5, 1924; June 4, August 13, December 3, December 17, 1925. Also *Khadi Bulletins*, 1923, p. 73, published by All India Spinner's Association, Ahmedabad. देखो 'हिन्दी-नवजीवन' ५ अक्तूबर १९२२, १ मई और ५ जून सन् १९२४, ४ जून, १३ अगस्त, ३ दिसम्बर, १७ दिसम्बर, १९२५। खादी-पत्रिका, सन् १९२३।

† Compare information and figures in *The Third Winter of Unemployment*, P. S. King and Son, London, 1922.

देशों के लिए बेकारी में सहायता देने के लिए रुई, ऊन या सन की हाथ की कताई सबसे उत्तम प्रकार का काम क्यों न समझा जाय? अधिक उद्योगी देशों में यंत्रमय रहन-सहन हो जाने से जो भ्रम पैदा हो गये हैं उनके कारण शायद यह काम छोटे ही पैमाने पर सफल हो सके। परन्तु इसमें तो शक नहीं कि इंग्लिस्तान और अमेरिका को भी चरखा छोड़े अभी एक सौ चालीस ही बरस हुए हैं और आज भी इन दोनों देशों में भी ऐसे गाँव रह गये हैं जिनमें यह पुराने औजार निजी तौर पर लोगों के काम आते हैं। ऐसे देशों में यदि चर्खे बनाये जायँ, लोगों को कातना सिखाया जाय, सामग्री बाँटी जाय, तो बेकारों के लिए अधिक काम हो जायगा, बल्कि सरकारी सहायतावाले काम से अधिक सहज, अधिक जल्दी, कम खर्च में और अधिक प्रभाव और सफलता से यह सब कुछ होगा। और जैसे अहमदाबाद में किया गया, मजूर-संघ या और स्वेच्छा-संगठन भी इसे मजे में कर सकते हैं। सरकार जब रुपये की मदद देती है तब स्वावलम्बन, आत्म-सम्मान और नैतिकता को थोड़ा-बहुत जो धक्का पहुँचता है, वह दोष इस विधि में तनिक भी नहीं है।

बम्बई-प्रान्त के कृषि-विभाग के भूत-पूर्व डैरेक्टर डाक्टर हेरल्ड एच. मान ने Times of India 'टैम्स आफ इंडिया' नामक पत्र के प्रतिनिधि से जो कहा था, वह उस अखबार के २२ अक्टूबर, सन् १९२७ के अंक में छपा था। उस का एक अंश हम यहां उतारते हैं—

"डाक्टर साहब से जब यह पूछा गया कि 'भारत के भुक्खड़ों के पेट भरने के भारी काम के लिये आप क्या उपाय सुझाते हैं,

तब वह बोले कि बहुत-कुछ तो लोग आप ही कर सकते हैं। उन्हें अपने को काम में लगा देना चाहिए, क्योंकि जिस देश के ज्यादा आदमी साल में छः महीने बेकार बैठे रहते हों वह सुखी होने की आशा कभी नहीं कर सकता। लोगों को सूखे समय में काम तो मिलना ही चाहिए, उससे मजूरी चाहे कितनी ही थोड़ी क्यों न मिले। डाक्टर मान ने यह भी कहा कि चाहे और तरह पर गांधी जी ठीक राह से भटक ही गये हों, परन्तु उन्होंने चरखे का जो पक्ष लिया है,—चाहे मजूरी उसमें दो ही एक आना रोज क्यों न मिले,—उसमें वह भारत की दरिद्रता के असली रहस्य के भीतर पैठ गये हैं।"

बेकारी को मिटाने के लिए सहायता के जितने उपाय संसार में जहां-कहीं सोचे गये हैं, ग्रंथकार के विचार में सबसे अधिक प्रभाववाली, सब से अधिक ठोस और बुद्धि से भरी रोग के मूल पर सब से ज्यादा चोट करनेवाली, सब से अधिक मौलिक और सब से ज्यादा विस्तार से काम में आ सकनेवाली योजना गांधी जी की ही है। पच्छाहीं मनुष्य जीवन के हर पहलू में यंत्र की विकटता देखने का आदी है और सीधी-सादी योजनाओं को तुच्छ समझ कर उनकी खिल्ली उड़ाता है; परन्तु गांधीजी की योजना की सादगी उसे हैरान कर देती है और उसकी खिल्ली-बाज़ी उसके सामने मन्द पड़ कर मिट जाती है। मनुष्य के विचार और व्यवहार के अनेक विभागों में जैसे लगती है वैसे ही इस चरखे की योजना में भी लैटिन की यह कहावत ठीक लगती है कि "सादगी सचाई का एक छोटा-सा लक्षण है।"

नोटः—

बेकारी पर कुछ उत्तम ग्रन्थों के नाम यह हैं। यह अंग्रेज़ी में हैं। W. H. Beveridge—*Unemployment*, London, 1912; J. A. Hobson—*Economics of Unemployment* Allen and Unwin, London, 1924; F. Geary—*Land Tenure and Unemloyment*—Allen and Unwin, London, 1925; A. C. Pigou—*Unemployment*—Home University Library Series; Rowntree and Lasker—*Unemployment: A Social Study*—London, 1911; F. C. Mills—*Contemporary Theories of Unemployment and Unemployment Relief*—U. S. A., 1917; A, Kitson—*Unemployment*, Cecil Palmer, London, 1921; G. D. H. Cole—*Unemployment, a Study Syllabus*, Labour Research Department, London; *Third Winter of Unemployment*—P, S. King and Son, London; *Waste in Industry* by a Committee of the Federated American Engineering Societies, Chapter XI, McGraw-Hill Book Co., New York, 1921; Stuart Chase—*The Tragedy of Waste*, Chapter VIII. Macmillan, New York, 1926; Sidney Reeve—*Modern Economic Tendencies*, Chapter XX, E. P. Dutton and Co., New York, 1921; W. N. Polokov—*Mastering Power Production*, Chapter 9 & 10, Engineering Magazine Co., New York, 1921; *Business Cycles and*

Unemployment, Report and Recommendations of a Committee of the President's Conference on Unemployment, McGraw-Hill Publishing Company, *New York*, 1922; F. W. *Pethick—Lawrence—Unemployment*, London; B. & S. Webb—*Prevention of Destitution*—London; H. Hart—*Fluctuations in Unemployment in Cities in the United States*, 1918.

आठवाँ अध्याय

कपास-कला की कुछ विशेष बातें

आजकल जो खद्दर तैयार हो रहा है उसमें से बहुत-सा तो मोटा, भारी और मिल के कपड़े से कम टिकाऊ होता है। तो भी जब सन् १९२१-२२ में खद्दर के आन्दोलन का आरंभ हुआ था, तब से इन बातों में बहुत-सा सुधार हो चुका है। सन् १९२५ ई० में कानपुर की राष्ट्रीय महासभा के अवसर पर और सन् १९२७ की जुलाई में बँगलोर में जब खद्दर की महा-प्रदर्शिनियां हुई थीं तब छः बरस के बीच में हर साल के बने खद्दर के नमूने दिखाये गये थे। उनसे सुधार की गति का खूब पता लगता है। जो लोग तब से बराबर बरस-बरस पर खरीदते-पहनते आये हैं उन की गवाही से भी यही बात पुष्ट होती है। तीन-चार बरस हुए सारे देश में कतने वाले सूत का औसत नम्बर ८ से लेकर १० तक ही था। अब तो वह १६ नम्बर तक की बारीकी को पहुँच गया है। और साथ ही यह भी याद रखने की बात है कि साधारण किसान के लिए सूत की अधिक मोटाई या कपड़े का ज़्यादा भारीपन रोज के पहनने के लिए कोई अवगुण या रुकावट की बात नहीं है।

यह दोष ऐसे नहीं हैं कि इन्हें दूर न किया जा सके या रुई या सूत की प्रकृति में ही हों। जब मिल का कपड़ा नहीं चला था तब खद्दर बराबर बहुत बारीक और बहुत टिकाऊ बनता था।

इस बात के गवाह उस समय के अनेक यात्री और ईस्ट-इंडिया-कम्पनी के कर्म्मचारी दोनों श्रेणी के लोग हैं और प्रमाण हैं युरोप के व्यापार में उस समय खद्दर की बढ़ी हुई मांग और और उस समय के खद्दर के संगृहीत नमूने। इस तरह के एक प्रकार के अनेक नमूने डाक्टर जान फार्ब्स राइल और मिस्टर फार्ब्स वाटसन ने इकट्ठे किये थे जो कलकत्ते के कला-अद्भुतालय में, बम्बई के रायल एशियाटिक सोसैटी में, लंडन में और शायद मैंचेस्टर में भी देखे जा सकते हैं।

अब तो सचमुच बारीक और बहुत टिकाऊ खद्दर दिन पर दिन अधिक मात्रा में बन रहा है। चरखे के सावधानी से काते हुए सूत की परीक्षा आजकल के बुनकारी के वैज्ञानिक यंत्रों द्वारा अखिल-भारतीय-चरखा-संघ के शिल्प-विभाग ने की और उसे अहमदाबाद की मिलों में कते सूत के पूरी तौर से बराबर पाया।* विविध-विशेषज्ञों ने आजकल के खद्दर के टिकाऊपन की गवाही दी है। † और सारे देश में बराबर उन्नति की जा रही है।

जो आदमी पच्छाहँ की वैज्ञानिक बुनाई की भारी उन्नति का हाल जानता है, या जिसने हाथ के कते-बुने सुन्दर और सचमुच बारीक कपड़े के नमूने कभी नहीं देखे हैं, उसके लिए

---

* See *Young India*, August 19th 1926.

† I. G Cumming—*Review of the Industrial Position and Prospects in Bengal*, 1908, pp. 7-9; Bengal Secretariat Book Depot, Calcutta; H. H. Ghose—*Advancement of Industry*, R. Combray & Co., Calcutta, 1910, pp 153.

यह विश्वास करना कठिन है कि खद्दर भी मिल के कपड़ों की तरह बारीक और टिकाऊ हो सकता है। इसलिए अच्छा होगा कि रुई के रेशों का कुछ शिल्पीय-विस्तार और कपड़े की तैयारी के कुछ ढंग, जिनसे कि कपड़ा बारीक और टिकाऊ होता है, थोड़े में ही यहां समझाये जायँ।

विवाद को सहज कर देने के लिए सूत की बारीकी के प्रश्न को हम अभी नहीं छेड़ते। सूत तो भारतवर्ष में चार सौ नम्बर तक का कतता आया है और आज भी कतता है।

अब प्रश्न यही रह जाते हैं कि व्यवहार और व्यापार के लिए जैसा सूत कत रहा है और जैसे कपड़े बन रहे हैं, मिल और हाथ के बने दोनों का मुकाबला किया जाय, और एक ही नम्बर के सूत की मजबूती, बराबरी और चीमड़ेपन की, और एक ही वजन के कपड़े के टिकाऊपन की जांच की जाय। इस जगह हमें केवल कपड़ों की चोखाई से मतलब है। इससे मतलब नहीं कि कौन कितनी मात्रा में तैयार होता है।

चोखाई के विचार का आरंभ रुई के अकेले नन्हें से रेशे से होता है। रुई का रेशा एक सेल है जो लम्बा हो गया है। एक खोखली नली है जो चिपटी हो गई है। इसकी दीवार बहुत पतली है। इसमें ऐंठन भी होती है जो कुंडली की तरह लम्बाई में घूमी हुई है अथवा लपेट के रूप में है जो कभी एक दिशा में जाती है, कभी दूसरी में। एक ही रेशे में कई बार यह दिशा बदल जाती है। इस ऐंठन का कसाव, लम्बाई और फैलाव कहीं ज्यादा है, कहीं कम। रेशे के किसी-किसी भाग में तो ऐंठन है ही नहीं। कोई दो रेशे समान नहीं हैं। एक ही बीज के रेशे में

परस्पर भेद होता है। पक्के होने में, लम्बाई में, चिपटेपन में, दीवारों की मोटाई में, व्यास की कमी-बेशी में, चिकनाई में, समानता में, कोमलता में, मसृणता में, चीमड़ेपन में, मजबूती में, आर्द्रता (नमी) में, उड़ने वाले तेल की कमी-बेशी में और मोम के खोल की मोटाई में, किसी बात में एक ही बीज के दो रेशे नहीं मिलते। फिर भिन्न भिन्न बीजों में, भिन्न खेतों या देशों के बीजों में, या भिन्न प्रकार के बीजों में तो पारस्परिक अन्तर का क्या ठिकाना है। सब से अधिक महत्व की बात जो याद रखने लायक है यह है कि कोई दो रेशे पूरी तौर से एक-से नहीं कहे जा सकते।*

कल की बनावट से हाथ की कारीगरी जो विशेषता रखती है उस का मूल।यही प्रभेद है। हाथ के काम की हर विधि में काम करनेवाला छूकर, देखकर, अपने अनुभवशील विवेक से और दक्षता से काम लेता है और वस्तु की ठीक पहचान करके जिस तरह के रेशे होते हैं उसी तरह वह अपने यंत्रों की, औजारों की गति-विधि बड़ी योग्यता से बराबर बदलता रहता है और रेशों के अनुकूल करता रहता है।† निर्जीव कल तो अपने काम में बिल-

---

*See F. H. Bowman *Structure of Cotton Fibre*, MacMillan, London, 1908; W. S. Taggart—*Cotton Spinning*, Vol. I, pp. 26-30, MacMillan, 1924; M. B. V. A. Talcherkar—*The Charkha Yarn* published by the author, Bombay, 1925. See Appendix E.

† Talcherkar above cited.

कुल एक-समान रहेगी, और रेशों में जो भारी अन्तर पड़ता है उसके अनुकूल अपनी गति-विधि बदलती नहीं रह सकती। इसमें तो शक नहीं कि हाथ एक-एक रेशे के परस्पर सूक्ष्म भेदों के अनुसार अपना ढंग नहीं बदल सकता, परन्तु अधिक स्थूल भेदों में तो कल की अपेक्षा हाथ अपने को अधिक अनुकूल बना सकता है।

कल की इस कठिनाई से बचने के लिए रेशों को ही विशेष विधियों से, कातने के पहले, भरसक समान कर लेना पड़ता है। इसी उद्देश्य से कल से कतने के लिए रुई को बार बार, अनेक बार साफ करना, मिलाना, पीटना और खींचना पड़ता है। कल के द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में माल तैयार करना है, इसी लिए यह सारी क्रियायें अत्यन्त जल्दी और बड़े जोर से, भीषण वेग और बल से, की जाती हैं। कल-बल के द्वारा ओटाई में भयानक पिटने और वेलन बड़े वेग से चलते हैं, रुई की गांठ बांधने में भीषण दबाव दिया जाता है। गांठों के खोलने में प्रचंड वेग से पिटाई होती है, रुई के उठाने में, फैलाने में और धुनने में प्रचंडता और वेग का तो ठिकाना ही नहीं है। इन सब क्रियाओं में रेशों का अधिकांश चुटैल हो जाता है, मर्दित हो जाता है, खुरच उठता है, तन जाता है, कट जाता है. छीजता है, उसके चीमड़ेपन मजबूती और बचे-खुचे प्राणों का ह्रास हो जाता है।* इसी के

* See Talcherkar, above cited; Sir George Watt—*Commercial Products of India*, pp. 593; *Chapter II;* W. H. Johnson—*Cotton and its Production* MacMillan, London, 1926.

मुकाबले के हाथ के काम अत्यन्त धीरे और कोमलता से होते हैं और रेशे के काम के गुणों की रक्षा करने में ज्यादा सहायता पहुँचाते हैं। ओटने के काम में भारतीय रुई के लिए तो यह बात विशेष करके सच्ची उतरती है, क्योंकि और तरह की कपास के मुकाबले भारतीय कपास में बीज के साथ रेशे ज्यादा मजबूती से चिपके रहते हैं। इसी लिए बहुत वेग से चलने वाली कल की ओटनी से और रुइयों की अपेक्षा भारतीय रुई अधिक खिंच जाती है, फट जाती है और चुटैल हो जाती है। †

रेशे या सूत के एक-समान होने पर ही कपड़े का टिकाऊपन निर्भर नहीं है। सूत की कताई या बुनाई समान-रूप से अच्छी या बुरी, मजबूत या कमजोर हो सकती है। समान-दृढ़ता, समान-लचक और समान-चीमड़ापन जब कताई में हो और बुनाई समान-रूप से गफ हो, तो कपड़ा अधिक टिकाऊ होता है। इन बातों पर अब हम अलग अलग विचार करेंगे।

"रुई के रेशे की अपनी अपनी मजबूती पर सूत की मजबूती निर्भर नहीं है। हर रेशे और रेशे की लपेट में ऐंठन की संख्या और व्यास की कमी या बारीकी पर सूत की मजबूती निर्भर है।........सूत की मोटाई में परोधि पर जितनी ही अधिक रेशों की संख्या होगी उतना ही अधिक सूत मजबूत होगा।"

"कातने वाले का उद्देश्य यह होता है कि ऐसा सूत काते जो भरसक सारी लम्बाई में एक ही व्यास रखता हो और उसकी

---

† W. H. Johnson *Cotton and its Production*, p. 140.

मोटाई की परिधि पर एक-रंग सर्वत्र एक ही संख्या में रेशे बरा-बर ऐंठे हुए हों।" ❀

"सूत की मजबूती उसके रेशों की अपनी अपनी मजबूती पर ही निर्भर नहीं है। हर रेशे के ऊपरी तल पर रगड़ सह सकने की शक्ति होती है। इसी के द्वारा सूत यथेष्ट ऐंठन ले सकता है, और जब खिंचाव पड़ता है तो इसी के द्वारा सूत के अपरिमित रूप से खिंच जाने में रुकावट होती है। इस शक्ति पर भी सूत की मजबूती निर्भर है।........रेशे की नलियां जब दबकर बैठ जाती हैं और ऐंठन ग्रहण कर लेती हैं, रुई में निश्चय ही रगड़ सहने की शक्ति तभी आ जाती है।" †

शायद ऐसी बात है कि मिल की विधियों में विविध भांति के रेशे उस समय अधिक मेल और समानता से बँट जाते हैं जब मोटी रस्सी के अनुरूप लम्बी पूनी घटते और बटते हुए सूत का रूप धारण करती है। हाथ से बनाई छोटी पूनियों में, जिससे हाथ से सूत कतता है, उतनी समानता और मेल से रेशे नहीं फैलते।

और मुल्कों की रुई से सूरत की रुई का मुकाबला करके डाक्टर बोमन कहते हैं कि सूरत की रुई के रेशे का अंग अपनी लम्बाई, भर बिलकुल समान होता है। ❀ और शुद्ध भारतीय

---

* Talcherkar *The Charkha Yarn*, above cited, pp. 18, 41, 46. In accord see W. S. Taggart *Cotton Spining* above cited pp. 24-30.

† Bowman—*Structure of Cotton Fibre*, above cited, p. 275; also W. S. Taggart—*Cotton Spinning*.

❀ Bowman, p. 124.

प्रकारों के लिए भी अगर यही बात सच हो तो और मुल्कों के मुकाबले में भारत के हाथ के कते सूत की मजबूती का और भी समर्थन हो जायगा। सूरत की रुई का एक-एक रेशा भी सब से ज़्यादा मजबूत है, परन्तु उसकी नली का व्यास बड़ा होने से इस गुण का लोप हो जाता है; क्योंकि और तरह की रुई के सूत में उसी व्यास में अधिक रेशे ऐंठे जा सकते हैं और सूरतवाली में कम। इन बातों पर और अधिक खोज और जांच की जरूरत है।

पच्छाहँ ने माल की तैयारी की मात्रा, और वेग के बढ़ाने के जो उपाय किये, उनके सिवा यह कहा जा सकता है कि रुई की कारीगरी में पच्छाहँ ने विशेष-रूप से जो नई बातें निकालीं वह यह हैं कि ओटने और कातने के बीच में उन्होंने अनेक उपयोगी काम जोड़े। हम यहां गांठ बांधने-खोलने, रुई के तोड़ने-उड़ाने, फटकने आदि की बात नहीं कहते। ओटने के बाद धुनकने का काम होता है। उसके बदले ब्रश से इस तरह पर कंघी करने का काम निकाला जिस में रेशे सीधे खिंचते हैं, बराबर सीधे समानान्तर हो जाते हैं, फिर यह पूनी के रूप में बनते जाते हैं साथ ही हलकी ऐंठन भी पड़ती जाती है, फिर सूत कतता है। इस क्रिया में पूनियों में अद्भुत समानता आ जाती है। इन सब बातों से अन्त में बराबरी आती है, सूत एक-रस निकलता है और सब का फल है सूत की मजबूती।

इन विधियों का बिलकुल सादा रूप पहले-पहल भारत में ही निकाला गया था और कहीं-कहीं भारत में आज भी उसका रवाज है। मदरास प्रान्त में कहीं कहीं हाथ से बारीक से बारीक सूत कातने में रेशों को कंघी से बिलकुल इस तरह अलग-अलग

किया जाता है कि वह प्रायः समानान्तर हो जाते हैं। वेलकर उनकी साधारण पूनियां नहीं बनाई जातीं। केले के पत्ते के टुकड़ों के पत्त में उन्हें रखकर पूनी की तरह थाम के उनसे सूत की कताई होती है। संभव है कि पूर्व-काल में सारे भारत में लोगों में इसी विधि का रिवाज रहा हो।

इस ग्रंथ-लेखक को इस बात की अधिक संभावना मालूम होती है आजकल कि चरखा आदि औजारों में सुधार करने के बदले यदि ओटाई और कताई के बीच की विधियों में कुछ इसी तरह का सुधार किया जाय तो खद्दर की चोखाई बहुत बढ़ सकेगी।

रंगने की विधि में भी पच्छाहीं रासायनिक रीतियों और रुई के अनुशीलन से बहुत-कुछ सुधार हुआ है। भारतीय देशी रंग बहुत अच्छे और सुन्दर हैं और भांति-भांति के हैं, परन्तु उनमें से अधिकांश कच्चे हैं और ठीक-ठीक जो आभा चाहें वही रँग लें ऐसा आजकल संभव नहीं दीखता। आशा की जाती है कि इस सम्बन्ध में जो बराबर खोज हो रही है उससे यह दोष भी किसी दिन दूर हो जायँगे।

मिल के सूत में रेशों का फैलाव जो अधिक समान-रूप में होता है, उसके बदले चरखे के सूत में और भी सुभीते की बातें हैं। मिल में सूत कतने के पहले रुई पर जितनी क्रियायें होती हैं उनसे एक तरह से रुई की दुर्दशा हो जाती है, रेशे कमजोर पड़ जाते हैं। चरखे के सूत के रेशों में इसीलिए ही निस्सन्देह ज्यादा मजबूती और चिमड़ापन होता है। मिलों में जिस विधि से बारीक सूत कतता जाता है और जहां-जहां कतता हुआ सूत कमजोर दीखता है वहां अधिक रेशों के ऐंठकर भरने से

कमी पूरी कर देता है। मिलों में चूड़ी की कताई में ❀ ऐंठन की उतनी बराबरी नहीं आती जितनी कि इस तरह हाथ की कताई में आती है। फिर, चरखे की कताई में बिजली पैदा होने का कोई काम ही नहीं है। मिलकी कताई में अत्यन्त वेग की चाल और चमड़े लोहे और काठ पर रगड़ होने से इतनी बिजली बन जाती है कि उसके कारण कताई के समय रेशे पास-पास और समानान्तर नहीं रहते, बल्कि एक-दूसरे से दूर होना और एक-दूसरे को भगाना चाहते हैं। * ऐसी दशा में सूत कमजोर पड़ जाता है। चरखे पर धीरे धीरे काम होता है, इसलिए केन्द्र-त्यागिनी शक्ति का जो प्रभाव पड़ता भी होगा वह नगण्य है। परन्तु चूड़ीवाली मिल की कताई में प्रचंड वेग से केन्द्र-त्यागिनी शक्ति उग्र होती है जिससे रेशे ऐंठन के विरुद्ध जा सकते हैं। † परस्पर अच्छी तरह वल खाकर न मिलने से मजबूत से मजबूत सूत नहीं बन सकता।

और भी बातें विचारणीय हैं। हाथ की कताई में कपास को अच्छी तरह पकने और सूखने का मौका मिलता है। मिल में तो रुई की गांठों में बहुत कालतक बँधे रहने से ऐसा मौका नहीं मिल सकता। फिर हाथ की ओटाई में, ओटने के पहले घंटे दो घंटे कपास का धूप में रखा जाना जरूरी होता है। इस तरह अधिक सूखने से अलग-अलग रेशों को ऐंठन का अच्छा मौका मिलता है। इसी ऐंठन से लपेट रगड़ सहने की शक्ति

❀ Bowman, p. 371; Talcherkar, pp. 9, 10, 42, 43.

* Bowman, p. 240-241; Talcherkar, p. 21.

† Talcherkar, pp. 9, 10, 39.

और बढ़ती है जिससे मजबूती बढ़ती है। डॉक्टर बोमन कहते हैं—

"यह विशेष प्रकार की ऐंठन बोकर उपजाई हुई कपास में अच्छी तरह देखने में आती है। इससे रुई में वह चोखाई आ जाती है जिससे उसकी कताई भी अच्छी होती है। अपने आप उपजनेवाले रेशों में यह खूबी हो नहीं सकती और उपजाई कपास के रेशों में भी आरंभ में नहीं होती। बात तो यह है कि जब उसमें हवा और धूप लगती है तब यह बात आती है। बेखुली ढोंढ़ी में से रेशे निकालिए तो उनमें ऐंठन नहीं होती। बीज की खोल के भीतर बन्द रहने से उनमें नमी रहा करती है। इस नमी में भी पौधे का रस और गोंद रहता है और जबतक सुखाने की स्थिति में विशेष-रूप से रेशे फैला नहीं दिये जाते तबतक रेशे सूख नहीं सकते। ढोंढ़ी जब खोली जाती है उसके बाद ही यह गुण दिखाई पड़ने लगता है।.........जब धीरे धीरे ऊपर और तहें जमने लगती हैं और बीज से अलग होकर जब रेशे पिचकने और सूखने लगते हैं तब उसका यह गुण बढ़ने लगता है।*

सूरत की रुई में एक विशेषता और है, जिससे कि उससे कते सूत में मजबूती बढ़ जाती है। और अगर यह विशेषता भारतवर्ष की और जातियों की रुई में भी पाई जाय तो चरखे के सूत की मजबूती का यह एक और कारण हो जायगा। डाक्टर बोमन की पुस्तक में पृ० ११८ पर सारिणी दी हुई है। उन्होंने पांच जातियों की रुई ली। उनके अलग-अलग रेशों के घुमाव

* *Structure of Cotton Fibre*, pp. 116, 275.

या लपेट की सब से अधिक, सब से कम, और औसत संख्या लिखी है। सी-ऐलैंडी, मिस्री, ब्राजीली, अमेरिकावाली, और भारतीय रुई, इन पांच में प्रत्येक के पचास नमूनों की परीक्षा की। इन अंकों से जो नतीजा निकाला उससे यह पता चलता है कि इन पांचों में से भारतीय (सूरतवाली) रुई में सब से अधिक और सब से कम लपेटों की संख्या के बीच सब से कम अन्तर है। सी-ऐलैंडवाली में अन्तर १२० है, मिस्री में १०५, ब्राजीली में १०२, अमेरिकावाली में ९६ है, और सूरतवाली में कुल ७० ही है। इसका अर्थ यह है कि सूरत के रेशों में बल या ऐंठन की समानता अधिक है। इससे उसके सूत में समानता अधिक आनी ही चाहिए। साथ ही इस समानता के साथ जो मजबूती आवेगी, वह तो है ही।

हम यह नहीं जानते कि हाथ की कताई में कताई के पहले जो क्रियायें होती हैं उनसे ऐंठन अधिक उलट-पलट जाती है या नहीं। इस प्रकार की उलट-पलट से सूत की मजबूती बढ़ती है। डाक्टर बोमन इस सम्बन्ध में अपनी पुस्तक के पृ० ११८ पर यों कहते हैं—"यह ख़याल रहे कि ऐंठन में इस तरह का उलट-फेर कताई में एक विशेष सुभीते की बात है, क्योंकि ऐंठती बेर इससे रेशों के लपटने में आसानी बढ़ती है, क्योंकि जिस तरह दहने और बायें दोनों ओर गतिवाले पेंच में जुटाने की ताकत ज्यादा होती है उसी तरह चाहे जिस ढंग से जिस दिशा में थामिए लपेट तो आवेगी ही।"

सूत का चीमड़ापन कुछ तो एक-एक रेशे के चीमड़ेपन पर निर्भर है और कुछ इस बात पर निर्भर है कि सूत की नली के व्यास

को एक मानें तो प्रति इञ्च ऐंठन की संख्या उससे कितने गुना अधिक है। हाथ की कताई के लिए जो तैयारी की जाती है वह अधिक कोमल विधि की होने से रेशे में चीमड़ापन अधिक छोड़ती है। मिल में "म्यूल" और "रिंग" दो विधियों से कताई होती है। मिल की कताई की तरह चरखे की कताई में एंठन के लिए सुभीते अधिक और अच्छे होते हैं। "रिंग" की कताई में उतने नहीं होते। और कातने वाले का कोमल स्पर्श और ठीक कताई की "निगाह" और उसके हाथ का अनुभव-जन्य विवेक यह तीनों मिलकर चरखे के सूत में मिल के "म्यूल" वाली विधि से भी अधिक चीमड़ापन पैदा करते हैं।

मिल के सूत की अपेक्षा चरखे के सूत में नरमी अधिक होती है। इसका भी अधिकांश कारण यही है कि कताई के पहले बहुत कोमल विधियों से उसके लिए रुई तैयार की जाती है।

यह सब विचार इस बात से असंगत नहीं है कि इस समय जो अधिकांश खद्दर बनता है वह मिल के कपड़े से कम टिकाऊ होता है। इन बातों से उन कारणों का पता लगता है जिन से कि प्राचीन काल का खद्दर सुन्दर, मजबूत और टिकाऊ होता था और यह भी मालूम होता है कि अब भी बहुत आला दरजे का खद्दर बन सकता है। इन गहरी शिल्प की बातों पर न तो अब तक पूरा ध्यान दिया गया और न इन सुभीतों से लाभ उठाया गया, परन्तु जब इनसे पूरा लाभ उठाया जायगा तब सारे भारत में उच्चकोटि का खद्दर सब जगह पाया जाने लगेगा।

कताई और बुनाई के बीच की हाथ की कारीगरी में भी कल-पुरजों के काम से कुछ और ज्यादा सुभीता है। हमने ऊपर *The Advancement of Industry* नामक पुस्तक का हवाला

दिया है। ग्रंथकार श्री ह. ह. घोष उसमें पृ० १५८ पर यों लिखते हैं—

"पहले जिन रीतियों की चर्चा की गई है उनसे मालूम होता है कि देशी बुनकार ताना तनने के पहले ही मांडी कर लेता है। सूत की तैयारी की यह बड़ी उपयोगी और सुभीते की रीति है। मिलों में बिलकुल इसका उल्टा करते हैं। ताना तनने में खिंचाव और तनाव बहुत होता है जिससे सूत बहुत टूटते हैं। मांड़ी देने से सूत इन जबर्दस्तियों को सहने में समर्थ हो जाता है। परन्तु बिना मांड़ीवाला सूत अपने चीमड़ेपन को बहुत-कुछ इन जबर्दस्तियों के सहने में खर्च कर देता है और करघे पर जरासा ज्यादा तनाव पड़ा और टूटा। मिलों में मांड़ी ताना तनने के पहले कभी नहीं दी जाती; क्योंकि मांड़ी करने में एक-साथ बहुत-से तागों पर मांड़ी चढ़ाना ज्यादा सुभीते का है। और जब मांड़ी देने के पहले बड़ी संख्या में सूत को इकट्ठा करना ही है, तो ताना ही तनकर मांड़ी करने में ज्यादा सुभीता मांड़ी करने वालों को होता है। इसी में मिलवालों को किफ़ायत है। परन्तु बेमांड़ी के सूत के तनने से सूत की मजबूती का एक अंश नष्ट हो जाता है।"

पृ० १५४ पर वह आगे चलकर दिखाते हैं कि बंगाल में अकेले सूत की मांड़ी (खुर्दी) कुछ खास-खास कपड़ों के लिए की जाती है। इसमें देर तो लगती है, परन्तु इसका कपड़ा चोखा और टिकाऊ निकलता है।

ऊपर अमलसाद के जिस लेख की चर्चा हो चुकी है, उसी में खद्दर के ज्यादा टिकाऊ होने के दावे पर वह कहते हैं—

"यह अधिक टिकाऊपन क्या इसलिए नहीं हो सकता कि

हाथ की कताई के समय सूत में तनाव का अधिकांश सूत में बिना खर्च हुए बचा रह जाता है और गोला बाना बहुत ठोंक ठोंक कर भरा जाता है ?"

आजकल अभी तो भारतवर्ष की पुरानी कलाओं की थोड़ी ही जागृति हुई है। उसमें भी रुई के कपड़े की तैयारी की कला का जागरण अभी कल की ही बात है। रेशों के जितने गुणों का ऊपर वर्णन हुआ है और जिन रीतियों की चर्चा हुई है, उन में से सबका न तो अबतक उपयोग हो पाया है और न सब का लाभ उठाने का अवसर ही मिला है। इस विषय को हम जान बूझ कर बारंबार कहते हैं, क्योंकि कल के पक्ष में हम लोगों के पक्षपात बहुत गहरे हैं। खद्दर में धीरे-धीरे बराबर उन्नति हो रही है और यंत्रों को अभी अपनी यशोकीर्त्ति को देखने के लिए कुछ प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।

अब तो शायद यह बात बिलकुल साफ हो गई कि भारतीय हाथ की कारीगरी में कला-सम्बन्धी कुछ ऐसे सुभीते हैं जो कल-कारखानों में मिल नहीं सकते। कल-कारखानों में भी सुभीते हैं सही परन्तु वे दूसरे प्रकार के हैं। भारतीय कारीगरी के सुभीतों को जब पूरी तौर से काम में लाया जायगा तो वह कल-कारखानों के सुभीतों से ज्यादा नहीं तो कम से कम उसके बराबर तो जरूर ठहर सकेंगे। यदि ऐसा हो तो कोई आश्चर्य्य की बात न समझी जानी चाहिए। क्योंकि सूती कपड़ा तो तब से भारत में बनता आया है जब से कि संसार में मानव-इतिहास का उदय हुआ है। भारतीय लोग स्वभाव से ही भाव-प्रवण होते हैं। उनकी निरीक्षण शक्ति जबर्दस्त होती है, वह छोटी-छोटी बातों का बहुत

विस्तार से ख्याल रखते हैं। गंभीर विचार करना उनका स्वभाव है। इन हजारों बरस के अनुभव में उन्होंने अनगिनत परीक्षायें की हैं, जिनका मुकाबला आजकल की कोई वैज्ञानिक प्रयोगशाला नहीं कर सकती। यह सच है कि जितनी जल्दी आजकल की प्रयोग-शालाओं में काम होता है उनके निरीक्षण और विचार की पद्धति उतनी जल्दी नहीं चलती थी। उनका काम धीरे-धीरे होता आया है। परन्तु उनकी पद्धति ठीक वैसी ही रही है जैसी कि आज की वैज्ञानिक खोज की है। उनके ज्ञान का बहुत-सा भांडार नष्ट हो गया है, परन्तु बहुत-सा उनके हाथ फिर आ भी गया है और बहुतेरा और हाथ लग सकता है। कारीगरी के पद-पद पर अभी नये-नये सुधारों की खोज और आविष्कार के लिए जगह है। परीक्षा, शिक्षा और दृढ़ निश्चय तीनों मौजूद हैं। वे कर्म्मण्य हैं और बढ़ रहे हैं। यह पूरी तौर से संभव है कि भारत में कपड़ा तैयार करने की हाथ की आजकल की कारीगरी बड़े पैमाने पर कल-बल की कला से चढ़-बढ़कर चोखी और उत्तम ठहरे। यदि ऐसा हुआ तो इसका फल यह होगा कि विज्ञान का अर्थ और उसका प्रयोग अधिक विस्तृत हो जायगा, मनुष्यों में परस्पर की सहिष्णुता बढ़ जायगी, और हम लोगों का विचार-सामंजस्य सुधर जायगा।

नवां अध्याय

काम ठीक दे रहा है ?

किसी आर्थिक आन्दोलन के ठीक होने की एक पहचान यह है कि उसमें जीते रहने की योग्यता हो, और विरोधी शक्तियों के होते हुए भी वह बढ़ता रहे । खद्दर-आन्दोलन इस कसौटी पर ठीक उतरता है। और पिछले अध्यायों में इस बात पर विश्वास करने के लिए अच्छे-अच्छे कारण दिखाये गये हैं कि इससे सम्बन्ध रखनेवाली विशेष व्यक्तियां भले ही आती जाती रहें, इसकी परवा न करके, यह आन्दोलन चलता और बढ़ता ही रहेगा। और जब हम उसी तरह के दूसरे खास-खास लोगों के निजी संगठन से जन्मे और आन्दोलन से सहायता-प्राप्त व्यवसायों से उसकी वृद्धि का मिलान करते हैं तो उसकी जीवन शक्ति का और अधिक प्रमाण मिलता है । इस आन्दोलन का मिलान हम इंग्लिस्तान के सहकार-आन्दोलन के आरंभ से, और भारत की रुई के उद्योगवाली मिलों के आरंभिक आन्दोलन से बड़े मजे में कर सकते हैं। भारतवर्ष के सहकार-आन्दोलन से मिलान करना तो असंगत होगा, क्योंकि उसे सरकार ने शुरू किया था और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय दोनों सरकारों के शासन, अर्थ, व्यवस्था सभी विभागों से उसे निरन्तर भारी मदद मिलती

रही है। यदि हम कुछ पुराने आन्दोलनों से,—जैसे डेनों ❀ का या गेलों का ❀ कृषि आन्दोलन, स्वीडों का हाथ की बुनाई का आन्दोलन,—मिलान करते तो बहुत शिक्षा मिलती, परन्तु उनके सम्बन्ध में हमें आवश्यक जानकारी नहीं है।

इंग्लिस्तान के सहकार-आन्दोलन का उदाहरण लीजिए—सन् १८२१ ई० में राबर्ट अरवेन ने पहली सहकार-समिति चलाई। नव बरस बाद ऐसी समितियां ढाई-सौ हो गई थीं। फिर यह संख्या कुछ बरसों में घटती गई। फिर इसकी उन्नति ज़ोरों से हो चली। राचडेल † का विभाजक भांडार २८ सदस्यों को लेकर सन् १८४४ ई० में आरंभ हुआ। बीस बरस बाद, सन् १८६४ ईसवी में, ऐसे भांडारों के सदस्य इतने बढ़ गये थे कि उनकी संख्या ४७४७ हो गई थी।

भारतवर्ष में पहली सूती मिल कलकत्ते में सन् १८३८ में चलाई गई। दूसरी मिल पन्द्रह बरस बाद, सन् १८५३ में बम्बई में चलाई गई। इसमें पांच हजार तकुए थे। सन् १८७५ तक भारतवर्ष में ४८ सूती मिलें हो गईं।

खद्दर का आन्दोलन सन् १९२० में चलाया गया। सन् १९२७ के ७ मार्च के "यंगइंडिया में" गांधीजी ने कहा है—

❀ राबर्ट अरवेन [सन् १७७८-१८५८ई०] एक समाज-स्वत्व-वादी सुधारक था। † राचडेल इंग्लिस्तान में लंकाशहर प्रदेश में राच-नदी पर बसा हुआ शहर है। यहीं पहले-पहले सहकार-विभाजक-भांडार बना। सहकार समिति की ओर से इसमें माल रखा जाता था। सदस्य लोग और दूसरे भी, यहीं से माल लेते थे। नफ़ा सहकारियों में ही बँटता था।

उल्थाकार।

"पिछले साल खद्दर-आन्दोलन में सन् १९-२० का बीस गुना काम हुआ है। पन्द्रह सौ गाँवों में आज पचास हजार चरखा कातने वालों की यह सेवा कर रहा है। साथ ही साथ जुलाहों, धोबियों, छीपियों, रंगरेजों और दरजियों की सेवा की तो बात ही अलग है। इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए कि पहले दो बरसों के आन्दोलन में जो राजनैतिक जोश था, और जो सहायता इसे मिली थी, वह बिलकुल खतम हो चुकी है।"

इस मिलान से तो खद्दर-आन्दोलन अच्छा ही दीखता है। यह मिलान उसके पक्ष में आता है।

इस आन्दोलन के चलने के पहले बहुतेरे किसान तो अपने लिए काता और बुना करते ही थे।

इस आन्दोलन की वर्त्तमान दशा और और किस प्रकार यह धीरे धीरे इस अवस्था तक बढ़ा, इन सब बातों का और भी ब्योरा अखिल भारतीय चरखा-संघ की दी हुई, आगे को सारिणियों से खुलेगा। इन अंकों में कई ऐसे छोटे-बड़े खादी बनानेवाले और बेंचने वाले संगठन शामिल नहीं हैं, जो अभी तक अखिल भारतीय चरखा-संघ से सम्बद्ध नहीं हुए हैं।

दुर्भाग्य से बनने और बिकने के अंक रुपयों के साथ वर्ग-गजों में और तौल में, दोनों रीति से नहीं दिये गये हैं। दामों में बराबर उतार-चढ़ाव होते रहने के कारण रुपये के अंक ठीक ठीक वास्तविक बढ़ती नहीं दिखा सकते।

सब प्रान्तों को मिलाकर कुल कितना खद्दर बनकर तैयार हुआ ?

(यह केवल दाम के रुपयों के अंकों में दिखाया गया है ।)

महीना	१९२७	१९२६	१९२५	१९२४
जनवरी	१३७,९२६	१८४,०६७		
फरवरी	१६८,६२०	१६०,०६८		
मार्च	१९३,५३२	१५२,४४५		
अप्रेल	१६४,४७३	१४४,७४२		
मई	१७९,९७६	१५८,९४१		
जून	१८९,१७०	१३२,२०४		
जुलाई	२२९,४९३	२०३,५१०	सितम्बर तक	
अगस्त	२३३,३८५	१२५,१९५	का जोड़	
सितम्बर	२२४,८३९	२१३,७३२	१९,०३,०३४	
अक्तूबर	२४२,३६९	१९८,३३८	१८८,५७९	
नवम्बर	२०३,६६६	१७२,२६८	१८६,०८५	
दिसम्बर	१७८,१६५	१७१,४८३	२३४,८१२	
	२३,४५,६१४	२०,८७,००३	२५,१२,५१०	९४९,३४८

इसके पहले के बरसों के ठीक ठीक अंक नहीं मिल सके ।

सब प्रांतों को मिलाकर कुल कितना खद्दर बिका ?

(यह केवल दाम के रुपयों के अंकों में दिखाया गया है ।)

महीना	१९२७	१९२६	१९२५	१९२४
जनवरी	२७७,२६१	२४५,७०९		
फरवरी	२३९,०५४	२३२,८३९		
मार्च	३०७,३२६	२४५,६३४		
अप्रेल	३१४,१६२	२७२,३७३		
मई	२७४,३२२	२२८,८२९		
जून	२८६,२०६	२२१,५१६		
जुलाई	२४२,२६९	२३५,१६९	सितम्बर तक	
अगस्त	२६१,१६४	१७७,३९८	का जोड़ ※	
सितम्बर	३३८,१००	२२०,१२३	२२,६१,०६१	
अक्तूबर	३२३,११२	३२८,२५३	२१२,९९४	
नवम्बर	२४५,३४२	२६०,६१८	२१४,९८२	
दिसम्बर	२६२,४५६	२५९,८१४	३१४,८०५	
	३३,७०,७७४	२९,२८,२७५	※ ४१,०३,८४२	※ १९,१६,४११

※ इन अंकों में कई दोहराकर जोड़े गये हैं । इससे पहले के बरसों के लिये ठीक ठीक अंक नहीं मिल सके ।

विक्री-भंडार

प्रान्त	शहरों में	कसबों में	गाँवों में
आन्ध्र-देश	९	१०	१७
अजमेर	२	२	४
बिहार	१०	१२	६
बंगाल	१७	२३	१०
बम्बई	२	...	...
बर्मा	१	...	...
मध्य-प्रदेश	२	...	...
दिल्ली	१	१	...
कर्नाटक	६	१४	४
केरल	१	२	...
महाराष्ट्र	८	१०	२
पंजाब	१०	८	...
तमिलनाड़	११	२४	१७
संयुक्त-प्रदेश	७	५	...
उत्कल	४	१	३
गुजरात	४	५	११
कुल-जोड़	९५	११८	७४

इनके सिवा अनेक फेरीवाले हैं जो दस्तूरी के बदले शहरों और गावों में, विशेषकर आन्ध्र-देश और तमिल-नाड़ में, घूम-घूम कर खद्दर बेचते हैं। कई फेरी वाले ऐसे हैं जो अपनी खुशी से घूम-घूम कर खद्दर बेचते हैं।

खद्दर की तैयारी के केन्द्र

अजमेर	...	...	७
आन्ध्र-देश	...	...	३२
बिहार	...	...	९
बंगाल	...	...	१७
बम्बई	...	...	१
बर्मा	...	...	...
मध्य-प्रदेश	...	...	...
दिल्ली	...	...	१
कर्नाटक	...	...	७
केरल	...	...	१
महाराष्ट्र	...	...	८
पंजाब	...	...	६
तमिल-नाड	...	...	२९
संयुक्त-प्रदेश	...	...	५
उत्कल	...	..	४
गुजरात	...	...	१८
	कुल-जोड़	...	१४६

इन केन्द्रों से जितने गावों में काम होता है उनकी संख्या शायद कई हजार तक पहुँचेगी।

अखिल भारतीय चरखा-संघ जितने काम करने वालों की सहायता करता है उनकी पूरी संख्या

प्रान्त	दफ्तर के लोग	कातनेवाले	धुनकने वाले	बुनकार
अजमेर	११	क्ष	क्ष	क्ष
आन्ध्र-देश	४०	७५६त्र	२३त्र	१२२त्र
बिहार	क्ष	१५०००	...	...
बंगाल	१७९	२१४६१	...	१०६७
बम्बई	१०	क्ष	क्ष	क्ष
बर्मा	४	क्ष	क्ष	क्ष
गुजरात	४७	२०६५	४९	१९४
कर्नाटक	२९	४१०त्र	१०त्र	५५त्र
केरल	क्ष	१००	...	१०
महाराष्ट्र	४०	३२५ज्ञ	१२ज्ञ	२५ज्ञ
पंजाब	३३	३०००	...	३००
तामिलनाड	६५	१४०४४	...	१५८१
संयुक्त-प्रदेश	२४	क्ष	क्ष	क्ष
उत्कल	३१	७८९	१६	४२
कुल-जोड़	५१२	५७१५९	११०	२४०७

क्ष—सूचना नहीं मिली।

त्र—तीन ही केन्द्रों के लिए।

ज्ञ—एक ही केन्द्र के लिए।

इनके सिवा विविध स्थानों में विविध रूपों से काम करनेवाले अनेक स्वेच्छा-सेवक हैं।

म्युनीसिपेलिटी या जिला-बोर्ड के मदरसों में चरखे की कताई

प्रान्त	म्युनीसिपेलिटी या जिला बोर्ड का नाम	कितने मदरसों में कताई जारी की गई	कितनी लड़कियाँ कताई की शिक्षा पा रही हैं	कितने लड़के कताई सीख रहे हैं	कताई कब से जारी की गई
आन्ध्र-देश	तिरुपती	९	१००	७६	१९२६
„	नेलौर	१०	१००	...	१९२७
„	गुंटूर	३५	...	...	१९२६
„	बरहमपूर	...	...	५४	१९२६
„	भीमावरम	४०	...	२०२	...
„	बेजवाड़ा	२७	...	१९४	...
बिहार	चम्पारन	४२०	...	...	१९२६
„	शाहाबाद	८	...	१३९	१९२६
तमिल-नाड	मद्रास	१	...	१००	१९२७
संयुक्त-प्रान्त	लखनऊ	१५	१०८	४१	१९२६
„	बनारस	३४	...	...	१९२६
„	इलाहाबाद	३८	५००	१६३८	१९२६
„	बस्ती	१	...	१५	१९२६
उत्कल	सम्भलपूर	...	...	७०	१९२६
	कुल-जोड़	६३२	८०८	२५२७	...

गंटूर, चम्पारन और बनारस में लड़के-लड़कियों की संख्या अलग अलग नहीं दिखाई गई थी। उनकी कुल-संख्या २८९८ थी। उसे जोड़-कर लड़के-लड़कियों की पूर्ण-संख्या ६२३३ ठहरती है।

जान पड़ता है कि उन पाठशालाओं की संख्या या जगह का कोई ब्यौरा नहीं मिला जिनमें तकली की कताई होती है।

सूत की परख जिस तरह यूरोप और अमेरिका में की जाती है उसी तरह के यंत्रों के द्वारा दस या अधिक खद्दर बनानेवाले केन्द्रों में भी की जाती है और अखिल भारतीय चरखा-संघ के कलाविभाग ने सूत की परख के लिए निश्चित नियम बनाये हैं। इस संघ की ओर से साबरमती में खद्दर की तैयारी की प्रायः समस्त विधियों की कला, और रंगाई, बही-खाता, संगठन और खद्दर तय्यार करनेवाले और बेचनेवाले केन्द्रों के जरूरी काम, तीन बरस में नियम-पूर्वक सिखाये जाते हैं। साबरमती में तो कई बरस पहले से कुछ इसी तरह का पाठक्रम चल रहा था, परन्तु उसका तब ऐसा अच्छा संगठन नहीं हुआ था। कई और जगहों में इन विषयों की और छपाई की भी शिक्षा दी जाती है।

संघ का एक प्रकाशक विभाग भी है जिसका काम है कला-सम्बन्धी और साधारण पत्र और पुस्तकें प्रकाशित करना। हर साल राष्ट्रीय महासभा जहां कहीं होती है वहां खादी-प्रदर्शिनी भी होती है। अनेक प्रान्तीय प्रदर्शनियां भी हुई हैं। सन् १९२५-२६ के लिए संघ की जो रिपोर्ट छपी है उससे मालूम होता है कि ३४७२ सदस्य "क" विभाग के और ९४२ सदस्य "ख" विभाग के उस वर्ष थे, जिनकी सब संख्या ४४१४ थी। यह अपनी इच्छा से कातते हैं जिनका सूत बिकता नहीं, बल्कि सहायता और संघ के संबन्ध से चन्दा या दान के रूप में मिलता है। दोनों प्रकार के सदस्यों की प्रतिज्ञा है कि हम सदा-सर्वदा खद्दर पहनेंगे और उनका कर्तव्य है कि चरखा और खद्दर का आन्दोलन जारी रखें।

"क" वर्ग के सदस्य महीने-महीने एक हजार गज कातते हैं, और "ख" वर्ग के सदस्य दो हजार गज साल में कातकर देते हैं। अट्ठारह बरस की अवस्था के नीचे के "शिशु सदस्य" भी हैं जो सदा-सर्वदा खद्दर भी पहनते हैं और महीने-महीने अपना काता हजार गज सूत भी देते हैं। इनकी संख्या १८५ है।

संघ के मंत्री के वार्षिक विवरण से, प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रकाशित पत्र और पुस्तकों से प्रान्तीय चरखा संघों और खद्दर बनाने के केन्द्रों के विवरणों से, अहमदाबाद से प्रकाशित गांधी-जी के पत्र 'यंग इंडिया' और गुजराती और 'हिन्दी नवजीवन' के फैलों से खद्दर-आन्दोलन की उन्नति के समाचार जाने जा सकते हैं। परिशिष्ट "घ" में इनमें से बहुतों की सूची दी गई है।

इस आन्दोलन को स्थायी रूप से और पूर्ण रूप से सफल बनाने के लिए निस्सन्देह अत्यधिक शिक्षा और संगठन के काम की जरूरत पड़ेगी। जब करोड़ों मनुष्यों को अनेक पीढ़ियों से खाम-खाह बेकार रहने की बान पड़ गई है और जब यह लोग इसी बड़ी मुद्दत से मलेरिया, काला-आजार और कृमिरोग से बराबर पीड़ित रहते आये हैं, तब उनके हृदय में आशा, अभिलाषा और उत्साह, और मस्तिष्क में उपजाऊ बुद्धि और शरीर में शक्ति पैदा करना कोई सहज काम नहीं है। तो भी, अबतक की बढ़ती ठीक और स्वस्थ रूप में हुई है और आशा होती है कि भविष्य में भी काम सन्तोष-दायक होगा।

दसवां अध्याय

विविध आपत्तियां

खद्दर-आन्दोलन के विरुद्ध यह एक आपत्ति बहुत की जाती है कि कताई की मजूरी इतनी थोड़ी होती है कि इस आन्दोलन को आर्थिक सफलता देने के लिए कताई का पेशा बहुत लोग नहीं कर सकते। लोग कहते हैं कि बेकार या अध-बेकार विधवाओं या गाँव की लड़कियों या औरतों के लिए ही यह पेशा ठीक है और किसी के लिए नहीं।

जैसा कि गांधी जी ने बारंबार* कहा है, इसका मुख्य उत्तर तो यही है कि चरखा कातना नित्य सारे समय का पेशा नहीं बताया जा रहा है। यह तो केवल उस समय के अंश का काम है जब अपने पास फालतू वक्त हो, चाहे वह किसी मौसिम में मिलता हो, चाहे नित्य के काम से बचा करता हो। चरखे के इस तरह के काम से दक्षिण भारत के गाँवों में परिवार की आमदनी सैकड़ा पीछे १५ से लेकर ६६ तक कताई से होती है।†

कुछ जिलों में तो मजूरीवाली आपत्ति किसी हद्तक वर्तमान-काल में ठीक ही है। परन्तु ज्यों-ज्यों चरखे आदि औजारों में उपयोगी सुधार होते जायँगे त्यों-त्यों इस आपत्ति की गुरुता घटती जायगी।

---

* See appendix A.

† *Young India* for Aug. 13, and Sept: 10, 1825.

यह आपत्ति इस प्रस्ताव के साथ ही साथ की जाती है कि कताई के मुकाबले कपड़े की बुनाई में मजूरी अधिक मिलती है इसलिए बुनाई को ही बढ़ावा देना चाहिए। गांधीजी का उत्तर सब से उत्तम है जो परिशिष्ट "क" में दिया गया है। सरकारी विभागों ने बहुत से जिलों में हाथ की बुनाई का प्रचार करना चाहा, परन्तु अन्त में यही कहना पड़ता है कि न तो इसकी बढ़न्ती हुई और न इसमें विशेष सफलता हुई। इससे तो गांधीजी की तजवीज का समर्थन ही होता है।

और लागों के विचार में हाथ की कताई-बुनाई की योजना में सब से पहला दोष यह है कि देखने में आजकल के विज्ञान और यंत्र-विद्या को बिलकुल हटा दिया जाता है, अन्धे असंभव दकियानूसीपन से काम लिया जाता है, झूठी तपस्या की जाती है। इस आपत्ति के कुछ भाग का उत्तर तो पहले और दूसरे अध्यायों में दिया जा चुका है, परन्तु इसके दूसरे अंशों पर हम यहां विचार करते हैं।

हम कभी-कभी इस बात को भूल जाते हैं कि विज्ञान और कला को मुख्यतः बड़ाई-छुटाई या रूप-रंग से कोई मतलब नहीं है। एक परमाणु के अनुशीलन में उतने ही महत्व का विज्ञान है जितने महत्व का विज्ञान महासागर के एक भारी जहाज पर विचार करने में है। घड़ी-साज या मकड़ी की कला उतनी ही बारीक और सुन्दर है जितनी कि बैलट बनाने वाले या पुल बनाने वाले की। चरखे की छुटाई या सादापन या उसके चलाने में अत्यन्त कम बल के लगने से वह अवैज्ञानिक नहीं हो जाता। बड़ाई-छुटाई और सादगी सापेक्ष शब्द हैं। अनेक चरखा चलाने

वालों को रुई के रेशे की उतनी ही वैज्ञानिक जानकारी हो सकती है, और इस आन्दोलन के कलावानों को होनी चाहिए, जितनी कि इंग्लिस्तान, जर्मनी, जापान या संयुक्त राज्यों के सब से ऊँचे दरजे के कलाविदों को होती है।

विज्ञान को हटा देने के बदले, खद्दर के कार्य्यक्रम में तो अर्थशास्त्र में वैज्ञानिकों के तापगतिशास्त्र के दूसरे सूत्र का* बड़ी बुद्धिमत्ता से प्रयोग किया गया है। ओटनी, धुनकी, चरखा और करघा बिलकुल सादे यंत्र हैं और भारत की परिस्थिति के लिए तो और यंत्रों की अपेक्षा अधिक उपयुक्त हैं। पुराण-प्रिय लोगों को नित्य की धूप कोयले से अच्छी जँचेगी, परन्तु भोजन और शरीर-बल के प्रयोग में जो आजकल की आती हुई सौर शक्ति का रूपान्तर है उतना ही विज्ञान है जितना कि प्राचीन संचित सूर्य्य-शक्ति के रूपान्तर पत्थर के कोयले के प्रयोग में है। बल-संचय में या कला में हमें विज्ञान का भ्रम नहीं करना चाहिए। विज्ञान का प्रयोग बल के सब रूपों और सब दरजों में और कला के सब प्रकारों में होता है।

भाफ के अंजन, डैनमों, और साधारणतया कलों पर मोहित

---

* लार्ड केल्विन के अनुसार दूसरा सूत्र यह है कि "ठंढे से ठंढे चारों ओर रहने वाले पिंडों के तापक्रम के नीचे तक किसी पदार्थ को ठंढा करके, उससे, निर्जीव पदार्थ की प्रेरणा से, यंत्र का काम लेना असंभव है क्लासिउसने इसी बात को यों कहा है—"बाहरी प्रेरक की सहायता के बिना, अपने-आप काम करने वाले किसी यंत्र के लिए एक पिंड से दूसरे अधिक तापक्रमवाले पिंड को गरमी पहुँचाना असंभव है।"

उल्थाकार

होकर हमें शरीर की अद्भुत योग्यता और उपयोगिता को न भूलना चाहिए। आखिर जो बल कि तेल और कोयले में मौजूद है उसे हमने तो बनाया नहीं है। एक शिल्पी को जो जल-बल उपजानेवाला कारखाना तैयार करता है, जितना गर्व नियागारा जैसी धारा से जल के प्रयोग में हो सकता है, अपने बनाये जल-संचय या जलाशय से जल के प्रयोग में उससे अधिक गर्व करने की जरूरत नहीं है। सूर्य्य की संचित शक्ति या बहती धारा से काम लेने में भी वही बात है। बहुत बड़ा आकार, भारी मात्रा, अत्यन्त वेग मन पर प्रभाव डालते हैं सही, परन्तु वह सब एक जरा से भारी शोर की तरह हैं। जंगली लोग जिस भ्रम में पड़ जाते हैं, हमें उसमें न पड़ना चाहिए और न उनसे डर जाना या विचलित होना या घबरा ही जाना चाहिए। मनुष्य के मन और आत्मा की महिमा अधिक है।

खद्दर-आन्दोलन में आज-कल के विज्ञान और कला का अधिकाधिक उपयोग हो रहा है, परन्तु पच्छाहीं उद्योग-वादी जैसे कल और बल में उनका उपयोग करते हैं उनसे भिन्न प्रकार के कल के काम में और भिन्न-रूप के बल के प्रयोग में वह उपयोग होता है।

हां, यह हो सकता है कि इन हाथ के औजारों को सुस्ती के साथ या मूर्खता से केवल पुराना रवाज समझ कर या प्राचीनकाल के आदर-मात्र की भूल से काम में लाया जाय। परन्तु उनका प्रयोग आज-कल के विज्ञान की बहुत बारीक और गहरी योग्यता और अद्भुत कला के साथ भी हो सकता है। केवल इसीलिए कि प्राचीन थीं, हमारे पूर्व-पुरुषों की रीतियों का न तो अच्छा ही होना आवश्यक है और न अवैज्ञानिक या बुरा ही होना जरूरी है।

प्रोफ़ेसर साडी स्वयं एक भारी और चतुर वैज्ञानिक हैं। वह भी कहते हैं—* "शक्ति की दृष्टि से उन्नति एक प्रकार से शक्ति के स्रोतों पर क्रम से काबू और आधिपत्य पाना समझी जा सकती है, जिसमें हम सदैव मूल-स्रोत से निकट ही होते जायँ।"........"लगभग एक शताब्दी से यह बात मालूम है,—परन्तु हम लोग प्रायः ज्ञान के वास्तविक तत्त्व को भूल जाते हैं—कि एकाध आर्थिक-दृष्टि से अत्यन्त नगण्य अपवादों को छोड़ कर, समस्त शक्ति जिससे सारा संसार चल रहा है, सूर्य्य से ही आती है।" †

"सम्पत्ति........असल में काम में आने वाली और सुलभ शक्ति से ही बनती है।"...........

"यद्यपि शिल्पी या भौतिक विज्ञानी को छोड़ सब को, सम्पत्ति के उपजाने में शक्ति एक नगण्य चीज मालूम होती है—यदि हम केवल उतने पर ही विचार करें जितना कि सम्पत्ति के पैदा करने में खर्च हो जाती है,—तथापि शक्ति ही सब से बड़ी और सब से अधिक महत्व की चीज है।" ‡

---

* *Wealth, Virtual Wealth and Debt,* above cited, pp. 37, 48, 57-68 and 102.

† मिलान कीजिए सूर्य्य की इस स्तुति से—"नमः सवित्रे जगदेक-चक्षुषे जगत्प्रसूति-स्थिति-नाश-हेतवे, त्रयोमयाय त्रिगुणात्मधारिणे, विरंचि-नारायण-शंकरात्मने। इसका भाव वैज्ञानिक और गंभीर है।

‡ आधुनिक विज्ञान जड़-सत्ता को या अनात्म-सत्ता को भी शक्ति का एक रूप ही समझता है।

"यद्यपि विशेषज्ञ को धूप की भौतिक शक्ति तक पहुँच जाने की नौबत नहीं आती, और आनुषंगिक विषयों को वह न भी समझे तो वह इसका अधिकांश इतनी अच्छी तरह से समझे हुए है कि बराबर काम में लगाता ही है। परन्तु युगों की दरिद्रता और पराधीनता से, जिसमें किसी न किसी तरह का हानिकर शासन रहा है, लोग स्वभाव से ही समझने लगे कि सोने की तरह सम्पत्ति भी संसार में ऐसी परिमित मात्रा में है कि यदि एक को अधिक मात्रा में मिली तो दूसरे को कम मिलना अनिवार्य्य है। वह यह नहीं समझते कि सम्पत्ति की मात्रा इतनी है कि वैज्ञानिक उन्नति से उसका प्राय: अपरिमित विस्तार हो सकता है। आज संसार की वास्तविक समस्याओं में से एक भी केवल सम्पत्ति पैदा करने की नहीं है। जितनी सम्पत्ति वस्तुत: तैयार की जा सकती है उसके थोड़े से अंश को भी इस तरह खर्च करने में जिसमें उसके बनाने या बेंचने के सुभीते के लिए झगड़ना न पड़े, कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। परन्तु उन लोगों को जो शक्ति और मानव-उद्योग के रूप में सम्पत्ति को नहीं आंकते बल्कि सिक्कों में उन की कीमत लगाया करते हैं, उन आर्थिक विपत्तियों के जारी रहने में कोई अ-संगति नहीं जान पड़ती, जिनमें यूरोप डूब रहा है, और शासन के मामूली से कर्त्तव्य में वहां असफलता का कोई चिन्ह नहीं दीखता जहां एक-साथ बेकारी और दरिद्रता का नंगा नाच हो रहा है।"

यह सच है कि गांधीजी ने कल-पुरजों के और आज-कल की औद्योगिक सभ्यता के बारे में कुछ कड़ी बातें कहीं हैं। परन्तु अच्छी तरह ऊहा-पोह करने से यह प्रकट होता है कि उनकी

वास्तविक आपत्ति उनके दुरुपयोग ही पर है, उन वस्तुओं पर नहीं है, चाहे दोनों पहलू परस्पर कितने ही सम्बद्ध हों। *

यदि पूंजी-वाद† को संसार से एक-दम निकाल बाहर करना संभव होता और उसकी जगह शुद्ध सेवा-भाव ले लेता, जैसा कि पिछले महा-समर में इतने अधिक मनुष्यों में हो गया था; तो बहुत-सा कल-पुरजा तो अपने-आप गायब हो जाता और उसी के साथ पच्छाहीं सभ्यता के बहुतेरे दोष भी अपने आप दूर हो जाते। अन्त में हम विचार-पूर्वक यही कह सकते हैं कि बहुतेरे विचारशील शिल्पियों, विज्ञानियों और ऐतिहासिकों के मन में संसार के भविष्य के लिए जो सन्देह हो रहा है। बल्कि उन्हें जो ऐसा प्रतीत हो रहा है कि विज्ञान को तोड़-मरोड़ कर बहुत हानिकर उद्देश्यों के पालन में लगाया जा रहा है, गांधीजी की स्थिति उनके संदेह और उन की प्रतीति से बहुत दूर नहीं।‡

---

* See Appendix E on Limitation of Machinery.

† श्री कीन्स नामक प्रसिद्ध ब्रिटिश अर्थशास्त्री अपनी पुस्तिका "स्वतंत्र छोड़ का अन्त" में (*The End of Laissez Faire*, by Keynes, Hogarth Press, London, 1926, p. 50.) जो लिखते हैं वह मिलाने के लायक है। उनके शब्दों का भावानुवाद यह है। "आर्थिक यन्त्र को चलाने वाली मुख्य शक्ति व्यक्तियों की धन कमाने की और धन के लोभ और मोह की वृत्तियां हैं। इन्हीं वृत्तियों की गहरी उत्तेजना पर निर्भर रहना ही पूंजीवाद का सिद्धान्त है।"

‡ See the writings of F. Soddy, W. N. Polkov, Count Korzybski, Bertrand Russell H. G. Wells. Trevelyan and others.

जबतक कल-पुरजों और उद्योग-वाद के सब झंझटों का पूरा और अधिक स्पष्ट ज्ञान भारत को न हो जाय और जबतक भारत ने अपने संगठन अपनी संस्थाओं और अपने कुछ अनुशासनों में विविध परिवर्त्तन नहीं कर लिये हैं, तबतक भारतवर्ष के लिए यह बहुत अच्छा ही होगा कि एड़ी से चोटी तक कल-मय होकर कलों को अपनाने का काम मुल्तवी रखे। पच्छाँह अभी कल-पुरजों की बुराइयों की कीचड़ में फँसा है। शायद निकलकर साफ हो सके। कुछ ठहर कर उसी काम को करने से फिर भारत को इस कीचड़ में हलकर निकलने की जरूरत न पड़ेगी। अगर राह की और कठिनाइयां दूर हो गईं तो शायद थोड़ी कलों से उसका सारा काम हो जायगा।

तपस्या-भाव का जो दोष लगाया जाता है, उसमें बहुतेरे यह भूल जाते हैं कि तपस्या किस लिए की जाती है। पूर्व-काल में लोग भारी ऐश्वर्य्य या शक्ति पाने के लिए अपने सांसारिक सुख तज देते थे। इस त्याग और कष्ट का फल होता था मनोरथ का मिल जाना। भारतीय स्थिति ऐसी है कि तपस्या-भाव उसके लिए अत्यन्त उपयुक्त है। इसे दोष समझना भूल है। इस भाव के प्रचार के लिए किसी से क्षमा-याचना की जरूरत न पड़ेगी।

पच्छाहीं सभ्यता को त्यागने के इस अभियोग से बिलकुल सम्बद्ध यह अधिक दार्शनिक आपत्ति है कि खद्दर की योजना तो गांधीजी के असहयोग के विचारों का ही एक रूप है। विरोधी कहते हैं कि असहयोग तो वस्तुतः निषेधात्मक है, इसी लिए एक भारी राष्ट्रीय जागरण के लिए असहयोग आधार नहीं हो सकता।

इतिहास से मालूम होता है और राष्ट्रीय समुन्नति के जितने उदाहरण देखने-सुनने में आये हैं सब में दो या अधिक पूर्व-कालीन सभ्यताओं के सम्बन्ध या मेल का फल अथवा एक पर दूसरे का प्रभाव ही देख पड़ा है। शायद भारत की वर्त्तमान स्थिति ठीक-ठीक वही क्रिया हो। क्या यह संभव नहीं है कि वर्त्तमान असहयोग की कल्पना ऊपर से देखने में वस्तुतः निषेधात्मक जँचती हो, परन्तु वह असल में कोई निश्चित विधि हो जिसमें उसके अनुयायी भारतीय संस्कृति के होते हुए भी पाश्चात्य संस्कृति की ऐसी सामग्री के चुनाव में लगे हों जो सचमुच भारतीय संस्कृति के भीतर पचाई जा सकती है, और जो सभ्यता आज भारत में सुधार के नये सांचे में ढल रही है उसमें पड़कर एक-दिल होकर घुल-मिल जाने के लिए -आध्यात्मिक, नैतिक और मानसिक अवयव बना सकती है? इस पहलू से विचार कीजिए तो असहयोग न तो शुद्ध निषेधात्मक है, न किसी विशेष बुराई का अस्वीकार-मात्र है, न किसी विशेष भलाई का स्वीकार-मात्र है और न रोष-पूर्वक पाश्चात्य सभ्यता की निन्दा-मात्र है, बल्कि वर्त्तमान परिस्थिति और पुरानी परम्परा के बिलकुल अच्छे से अच्छे विवेक-पूर्ण प्रयोग के लिए किसी विशेष पद्धति को चुन लेने और पसन्द कर लेने का एक रूप है। जो काम या नाम देखने में केवल निषेधात्मक है वह वर्त्तमान राजनैतिक और आर्थिक परिस्थिति का ही प्रति-रूप है, और आन्दोलन का सच्चा दृश्य नहीं है।

हम शरीर की स्वास्थ्य की क्रिया में इसका रूपक देख सकते हैं। शरीर में बराबर इष्ट पदार्थ सात्म कर लिये जाते हैं, अनिष्ट

पदार्थ मल और विष के रूप में निकाल बाहर किये जाते हैं। बाहर निकालना उस दशा में बिलकुल ठीक है जब कि अधिक उपयोगी पदार्थ हम पचाते भी हों। यह दोनों क्रियायें ठीक पदार्थ को ठीक और उपयोगी स्थान में रखना है। जो मेरे लिए मल और विष है उद्भिज्जों के लिए अमृत है। उसे लेकर वह मुझे अपनी त्यागी सामग्री देते हैं; जो मेरे लिए अमृत है।

भावमय सृष्टि में भी यही दोहरी प्रक्रिया चलती है। सृष्टि की विधि जितनी त्याग की है उतनी ही ग्रहण की भी है। इस सम्बन्ध में "त्याग" का क्या अभिप्राय है? भावों की एकता में जो कुछ असंगत है उसे अलग कर देना। "ग्रहण" क्या है? उस एकता से सु-संगत भावों को मिला लेना। ❀

फिर हमें किसी काम के नये-पन से या उसमें जो साधन लगते हैं उनके आकार से भ्रम में न पड़ जाना चाहिए। जैसे, यदि हम देखें कि कोई मिल का मैनेजर या कोई यूरोपियन खद्दर खरीदने से इनकार करता है, या एक कलावान् ऐसे चित्र को नहीं लेना चाहता जिसकी रंग-रेखा उसके अनुकूल नहीं है, तो हम उसके इस व्यवहार को न तो "निषेधात्मक", कहते हैं, न हानिकर और न प्रतिबन्धक (Shultifying)। खद्दर-आन्दोलन हाल का ही है और मुकाबले में उद्योगवाद से छोटा ही है। परन्तु इन बातों से यह अवश्य ही नहीं सिद्ध होता कि उसमें जो जो बातें त्यागी गई हैं वे शुद्ध निषेधात्मक ही हैं। क्रिया के रूप की अपेक्षा उद्देश्य और भाव का महत्व अधिक है।

❀ A. N. Whitehead, *Religion in the Making*, Macmillan, New York, 1926, p. 113.

समीक्षकों का एक दल और है जो खद्दर-आन्दोलन की यह कह कर निन्दा करता है कि गांधीजी कहते तो हैं कि मुझे समस्त मानव-जाति से प्रेम है, परन्तु नैतिक दृष्टि से खद्दर-आन्दोलन इस भाव से अ-संगत है। उनका कहना है कि विदेशी कपड़ों का बहिष्कार करके खद्दर के प्रचार का अर्थ होगा जापान और लंका शहर में भयानक बेकारी और महाकष्ट, और भारत से और दूसरे देशों से विरोध। वह यह भी कहते हैं कि भारत की जनता की सहायता की उत्सुकता में गांधीजी दूसरे देशों की मजूर-जनता और मिलवालों को हानि पहुँचाने को तैयार हैं।

यह समीक्षक दो बातों को भूल जाते हैं। वह यह मान लेते हैं कि पच्छाहँ में जो वर्त्तमान औद्योगिक और साहूकारी-पद्धति चल रही है, वह बिना किसी सुधार अथवा परिवर्तन के चल सकती है और उसकी चाल बराबर बनी रहनी चाहिए। वह इस बात को भी भूल जाते हैं कि खद्दर भी एक ही छलांग में अपनी सफलता की पराकाष्ठा को नहीं पहुँच सकता। उसके धीरे धीरे बढ़ने से पूंजीवालों को इतना समय मिल जायगा कि अपने रुपये एक विभाग से हटा कर दूसरे सुभीते के विभाग में लगावें, जहां विविध मालों के उपयोग का विविध दिशाओं में विकास करना सम्भव है, जहाँ तरह तरह के आर्थिक जोड़-तोड़ करने हैं, और जहां नये अन्तर्राष्ट्रीय और औद्योगिक सम्बन्ध पैदा होने वाले हैं। लंकाशहर की वर्त्तमान कठिनाइयाँ भारत से मांग के घट जाने से उतनी नहीं मालूम होतीं, जितनी कि महासमर के समाप्त होते ही पूंजी के एक-दम फूल जाने से, रायन आदि कई नकली रेशमों के फैल जाने से, अयोग्य काम करने वालों के

बराबर काम करते रहने से, और चीन में बहिष्कार के होने से।*

स्थिति इतनी विकट है कि यह बात निश्चय से नहीं कही जा सकती कि आगे किस तरह का विकास होगा। परन्तु हमें इतनी बात में तो कोई सन्देह नहीं कि जो अर्थ-शास्त्र से बिलकुल ठीक है वह सारे संसार के लिए बिलकुल ठीक है। व्यक्तियों के लिए भी वही बात है, क्योंकि एक की सुख-समृद्धि के कारण दूसरे को दुख-दारिद्र नहीं हो सकता।

भारतीय, लंका-शहरी और जापानी मिलवालों और उनके मित्रों को खद्दर-आन्दोलन की ओर न तो क्रूरता या द्वेष की दृष्टि से देखना चाहिए और न उससे चिन्ता करनी चाहिए। पिछले चौथे अध्याय में जैसा दिखाया गया है, सारे संसार के रुई के रोजगार और कपड़े के उद्योग-व्यवसाय में जो साधारण परिवर्तन हो गया है उसी का एक अनिवार्य्य अंश हमें इस रूप में दीख रहा है।

मोटर-गाड़ियों, हवागाड़ियों और विमानों के चल पड़ने से रेल-गाड़ियों की कोई हानि नहीं हुई। इनके चलने से विविध प्रकार की सेवाओं में अधिक विशेषता और कुशलता आ गई है और साथ ही सब मिला कर संसार की पूर्ण सेवा में बढ़न्ती आ गई है।

---

* See Memorandum on Cotton for International Economic Conference. The article on Cotton in 12th edition of Encyclopaedia Britannica and article on Lancashire situation in the *Nation and Athaeneum*, Nov. 13, 1926.

रुई के मिल-कारखारियों के भय का भी यही उत्तर है। जब संसार-भर में सौरशक्ति का सफल उपयोग—फिर चाहे वह संचित रूप में हो, चाहे धारा रूप में हो—सब मिलाकर बढ़ जायगा और इस बढ़न्ती के कारण जब सब देशों में खरीदने का बल बढ़ेगा, तब तो मिलों के लिए किसी न किसी तरह के माल की खपत के लिए बाजार तैयार हो जायँगे। जैसे, अगर किसानों की समृद्धि बढ़ गई तो अनाज बढ़ा और बढ़े हुए अनाज का अर्थ है अधिक बोरे और थैले रखने के लिए, इस तरह बोरों और थैलों के लिए कपड़ों की मांग बढ़ जायगी। समस्या यह नहीं है कि हाथ के औजारों को किस तरह निकाल बाहर करें या एक मिल दूसरी को कैसे व्यर्थ कर दे, बल्कि समस्या यह है कि सब से अधिक मात्रा में सब से अधिक टिकाऊ सेवा के लिए शक्तियों का सब से अच्छा उपयोग सब से अधिक दक्षता से किस तरह किया जाय।

इस पद्धति का यह अर्थ नहीं है कि आर्थिक या और तरह की रुकावटें या कैदें पैदा हो जायँ। बल्कि एक-दूसरे के नोच-खसोट को घटा कर, यह विधि आपस का विश्वास और सम्मान बढ़ाने में मदद देगी। जो कोई यह डरे कि जीवन की पहली आवश्यकताओं के लिए, अन्न, वस्त्र और घर के बारे में, आर्थिक स्वाधीनता या स्वावलम्बन हो जाने से प्रत्येक देश दूसरों से अलग-थलग रहेगा, तो समझना चाहिए कि वह इस भ्रम में पड़ा हुआ है कि पदार्थ, वस्तु, विचार और आदर्श की मात्रा परिमित है और इसी परिमित मात्रा में सब को मिलाना है। परन्तु यह न तो व्यक्तियों के बारे में सत्य है और न राष्ट्रों के।

वर्तमान ग्रन्थ के लेखक की दृष्टि में संसार-भर में जो नई

व्यवस्था हो रही है और बढ़ रही है उसी का एक अंश है जो भारत में इस नये आन्दोलन के रूप में दीखता है। इस आन्दोलन में गांधीजी के महान् भाग के लिए उन्हें दोषी वही ठहराता है, जो शायद इस सत्य को नहीं समझता कि इतिहास प्राचीन-काल में निर्मित इमारत नहीं है, बल्कि वर्त्तमान में समूहों और व्यक्तियों के अन्दर काम करने वाली एक प्रगति है। चाहे गांधी-जी या खद्दर-आन्दोलन हो या न हो, पच्छाहीं सभ्यता ने जो जो भूलें की हैं उनके बदले वहाँ के लोगों को कष्ट भोगने ही पड़ेंगे।

इसके सिवा बेकारीवाले अध्याय में जैसा सुझाया गया है, खद्दर का विचार पच्छाहँ के लिए भी एक तोहफा है और वहां के बेकार लोग भी अपने देशों में उससे लाभ उठा सकते हैं और अपने ही काम के लिए चाहे बिक्री के लिए ऊन और सन कात सकते हैं। बहुतेरे पच्छाहीं किसान भी सुखी नहीं है और उन्हें भी सदा काम नहीं रहता। वह भी कुछ भेड़ रख कर अपने कपड़ों का बन्दोबस्त कर लें तो उनका खर्च घट जाय। पच्छाहँ में सभी वस्तुओं के सारे खर्च में ढुलाई और बिक्री का खर्च,— जो वर्त्तमान-काल में सम्पत्ति के बँटने के काम में जरूरी है,— निरन्तर बढ़ता ही जा रहा है। किसानों को यह बराबर बढ़ता हुआ बोझ लग रहा है। ऐसी दशा में सहकार-समितियों का आन्दोलन रहन-सहन का कुछ ही खर्च घटा सकेगा। परन्तु मान। लो कि खाने, कपड़े, घर इनमें से एक भी जीवन की आवश्यकता की पूर्ति में किसान पूंजी-व्यवसाय के जाले से छूट सके, मान लो कि अपने पहनने का कपड़ा आप ही बना ले सके, तब तो खर्च बहुत-कुछ घट जायगा, और हर आदमी के काबू में अधिकाधिक

हो जायगा।* कोई आदमी ईमानदारी से गांधीजी को यह दोष नहीं लगा सकता कि वह और राष्ट्रों के कष्टों का बिलकुल ख्याल नहीं करते।

अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति का एक दूसरा पहलू है देश से निकल कर विदेश में जाकर बसना। अगर पूरबी लोगों के और देशों में जाकर बसने में रुकावट डाली जाती है, तो पूरब के लोगों को भी जहां हैं वहीं अपने स्वाभाविक सम्पत्ति के श्रोतों को और बढ़ती हुई आबादी को भरसक काम में लाना पड़ेगा। युरोप और अमेरिका वाले और देशों में तो भारतीयों को नहीं बसने देना चाहते, और जब भारतीय अपनी रीति पर भारत में ही अपनी जीविका करना चाहते हैं तब उनकी खिल्ली उड़ाते हैं और निन्दा करते हैं। यह दोनों बातें हो नहीं सकतीं। इसमें उनका अन्याय है। भारत की सौर शक्ति का पूरा पूरा उपयोग जब किया जायगा, तो उसकी बढ़ी हुई आबादी की समस्या बहुत-कुछ हल हो जायगी और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के कुछ कारणों के मिटाने में मदद मिलेगी।

मध्यम-वर्ग के अनेक लोगों को खद्दर पहनने में कुछ आपत्ति है। विशेष कर बड़े परिवारवाले या शहर में रहनेवाले कहते हैं कि खद्दर की बुनाई के कारण खद्दर पर दाम ज्यादा बैठता है, इससे परिवार का खर्च अत्यन्त बढ़ जाता है। उनका कहना है कि मिल के महीन कपड़े से मोटा खद्दर जल्दी मैला हो जाता है। वह जिस दरजे के लोग हैं उसके हिसाब से उनको सदा साफ

* See S. A. Reeves—*Modern Economic Tendencies*, E. P. Dutton, New York, 1917.

कपड़े ही पहने दीखना चाहिए इसलिए धुलाई जल्दी, जल्दी पड़ती है, कपड़ा भी जल्दी फटता है, धोबी को पैसे ज्यादा देने पड़ते हैं या धोने को ज्यादा नौकरों की जरूरत होती है। कपड़ा भारी होता है इसलिए बहुत देर में सूखता है, विशेष कर बरसात में तो सूखना मुश्किल हो जाता है। इसलिए भी ज्यादा कपड़े बद-लने को रखने पड़ते हैं। कपड़ा अधिक मोटा होने से साबुन ज्यादा खा जाता है, साफ़ कम होता है और खर्च ज्यादा लगता है। फिर रंगा जाय तो उसकी बुनावट इतनी मोटी और गाढ़ी होती है कि उसमें हलके कपड़ों की अपेक्षा दूना-तिगुना रंग खर्च हो जाता है, इस तरह खद्दर की रंगाई में भी ज्यादा खर्च बैठता है।

यह कठिनाइयां वास्तव में हैं और व्यवहार से ही सिद्ध हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने का यह उपाय नहीं है कि हम उन लोगों से कहें कि आप अपना रहन-सहन बदलिए। शायद एकाध सज्जन ऐसा कर भी लें, पर अधिकांश लोग तो इनकार करेंगे और यदि ऐसी माँग पेश की जायगी तो इस आँदोलन से उनकी मानसिक सहानुभूति भी मिट जायगी। यह कठिनाइयाँ तभी मिटेंगी जब कला और संगठन में इतने काम के सुधार हो जायँगे कि सस्ते दामों पर अधिक हल्का और ज्यादा टिकाऊ खद्दर मिलने लगेगा। जब यह सुधार हो रहे हों, तो उस समय यह मौका होगा कि जो खद्दर के केन्द्र अब सस्ता, हल्का, टिकाऊ खद्दर दे सकें वह अपने माल का विशेषकर शहरों में खूब ढँढोरा पीटें और विज्ञापन दें और इस तरह अपना और आँदोलन दोनों का भला करें। साथ ही यह भी खूब समझना

चाहिए कि यह वह आपत्तियाँ नहीं हैं जो गाँवों की अत्यन्त भारी आबादी पर कोई ध्यान देने योग्य प्रभाव डालती हों। तो भी जहाँ तक कि मध्यम-वर्ग की सहकारिता और सहायता अभीष्ट है, इन आपत्तियों को मिटाने के उपाय मुस्तैदी से करने चाहिए।

और भी समीक्षक हैं जिनका आग्रह है कि अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से यह अनुचित है कि आप किसी से कहिए कि खद्दर खरीदो, जब कि मिल के कपड़े से खद्दर खरीदने में दाम ज्यादा देने पड़ते हैं। परन्तु इस स्थिति का मिलान उससे करना चाहिए जब कि संयुक्त-राज्यों के हर नागरिक को लोहे और ईस्पात के लिए इसीलिए बेशी दाम देने पड़ते थे, कि उसकी सरकार ने स्वदेशी नई लोहे और ईस्पात की कम्पनी के द्वारा नव-जात उद्योग की रक्षा के लिए इस तरह के माल पर रुकावटी कर लगा दिया था।

जब तक बिलकुल नये धन्धे को बढ़ाने के लिए जिसके तैयार किये माल से आदमी की कोई पहली जरूरत भी पूरी न होती हो, और जिसके मुनाफे और जिसका शासन अधिकांश थोड़े से चुने लोगों की मुट्ठी में हों, सरकार कर लगावे और वह कर उचित समझा जाय,—तब तो सब पक्षों पर विचार करके कपड़े का एक कर देना मेरे निकट आर्थिक रीति से बिलकुल पक्का, पोढा और ठीक जँचता है। क्योंकि हम इससे एक ऐसे प्राचीन धन्धे को फिर से जिलाने में सहायता देते हैं, जिससे मनुष्य की एक पहली जरूरत पूरी होती है और जिसमें यह शक्ति है कि वह देश की सच्ची सम्पत्ति, उसके सौरबल, को बढ़ा सकता है और बराबर-बराबर देश भर में सहज ही बाँट सकता है। खद्दर का आन्दोलन एक भारी राष्ट्रीय भूल को सुधारने के

लिए बड़े पैमाने पर एक उद्योग है और इसमें सभी भारतीयों को सहायता करनी चाहिए।

एक अन्तिम आपत्ति यह रह जाती है कि कताई केवल स्त्रियों का काम सनातन से चला आया है और पुरुष इसे जनाना काम समझते और इसमें अपना अपमान मानते हैं और इसी-लिए वह कातने के लिए जल्दी तैयार नहीं किये जा सकते। यह बात बहुत-कुछ सच है। परन्तु पहाड़ों पर और मैदानों में सभी जगह पुरुष गड़रिये तो बराबर कातते ही हैं। ऐसी पुरानी रूढ़ियों को सुलझाने के लिए गाँधीजी का प्रचण्ड नैतिक प्रभाव पर्याप्त-रूप से सफल रहा है और रहेगा। यदि मध्य-वर्ग के और पढ़े-लिखे समझदार लोग एक बड़ी संख्या में इस विषय को ठीक रीति से और अधिक स्पष्टता से समझने लगेंगे, तो उनके उदा-हरण से गाँधीजी को भारी मदद मिल जायगी।

संभव है कि कुछ विचार जो इस पुस्तक में प्रकट किये गये हैं, इस प्रकार की कल्पनाओं को फिर से ध्यान में लाने में मदद करें। हाथ की मजूरी जब सौर शक्ति को रूपान्तरित करने की एक विधि ही ठहरी, तो वह जरूर उतना ही सुन्दर और सम्मान का काम है जितना कि विशाल बल-शाली कल-कारखाने के अध्यक्ष या शिल्पी का। दोनों एक ही क्रिया के भिन्न-भिन्न रूप हैं। जो हाथ से काम करता है वह अपने लिए बल वस्तुतः सीधे पैदा करता है और काम में लाता है। परन्तु शिल्पी जिस बल को काम में लाता है और लगाता है, उससे उसका उतना सम्बन्ध नहीं है। इसलिए शिल्पी की अपेक्षा हाथ के मजूर क

अपनी दक्षता और सफलता में अधिक और वाजिबी गर्व होना चाहिए।

अगर एक किसान दाल-चावल और गेहूँ में सौर-शक्ति को परिणत करने में नहीं लजाता, तो सौर-शक्ति को कपड़े में परिणत करने में कौन-सी कमजोरी और लाज की बात है? जब कोई किसान किसी मिल में मजूरी करने जाता है तो कताई का काम खुशी से ले लेता है। फिर घर पर इसमें क्या लाज है? कोरी रूढ़ि और मूर्खता है। इसके नष्ट करने की आशा अब पहले से ज्यादा है। और पढ़े-लिखे मध्य-वर्ग के नवयुवकों की बात लीजिए तो यदि उनमें तनिक भी कल्पना है, तो सौर-शक्ति को काम में लाने का संगठन और प्रयोग संसार भर में एक काफी उत्साह भरने वाला एक प्रचंड पदार्थ है।

संसार के सभी बड़े आन्दोलनों की तरह इसमें भी अत्युक्तियाँ हैं, असम्भव बातें हैं और भूल-चूक हैं। परन्तु खिल्ली उड़ाने वालों ने इनसे काफी लाभ उठाया है, इसीलिए इन पर यहाँ विस्तार करने की जरूरत नहीं है। उनसे इस आन्दोलन के वास्तविक औचित्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

ग्यारहवां अध्याय

दूसरी सुधार-योजनाओं से चरखा-आन्दोलन का मिलान

भारतवर्ष जैसे बड़े देश में, जहां अनेक और बहुत विकट सामाजिक और आर्थिक समस्याएं हों, वहां सुधार और उन्नति की अनेक योजनाओं का होना, और कुछ का काम में और कुछ का कागज पर ही होना बिलकुल स्वाभाविक है। उनके प्रचारक कर्म्मण्य हैं, भक्त हैं, उत्साही हैं और अनेक दिशाओं में बहुत अच्छे काम हो रहे हैं। विचार और व्यवहार जो उबल रहे हैं, उसी तरह की जागृति के लक्षण हैं, जिस तरह की जागृति एशिया के और भागों में भी हो रही है।

इन सुधारों में से एक की भी सफलता या उद्योग की मैं न तो निन्दा करता हूँ, न दोष दिखाना चाहता हूँ। तो भी मैं यह कहूँगा कि मेरे निकट औरों से अधिक चरखा-आन्दोलन में कुछ सुभीते ऐसे दीख रहे हैं जिनका उल्लेख उस समय करना जरूरी है, जब हम चरखे के औचित्य पर सावधानी से विचार करने बैठें।

इसलिए कि भारत मुख्यतः खेतिहर-देश है, उसके अधिकांश लोगों का खेती की उन्नति और सुधार पर सब से पहले ध्यान देना स्वाभाविक ही है। भारतवर्ष सचमुच सुखी तभी हो सकता है, जब उसकी खेती सुधरे और समुन्नत हो। इसमें तो तनिक भी

सन्देह नहीं कि अनेक देशों की खेती के मुकाबले भारतवर्ष की खेती में पैदावार कम है और ऊपरी झंझट बहुत है।* खेती में शायद सब से अधिक सौर शक्ति लगती है, अतएव हर देश के लिए खेती का बहुत भारी महत्व है।

खेती के सुधार की विविध योजनायें हैं। खेतिहरों की सह-कार ऋण संस्थायें हैं। सब तरह का माल उपजाने और बेचने के लिए खेतिहरों की सहकार-समितियां हैं। खेत के छोटे-छोटे रक़बों के मिलाने और फिर से बंटवारे के लिए, और सिंचाई के लिए सहकार-संस्थायें हैं। गो-पालन और गो-रक्षा की सभायें हैं। सरकार की ओर से खेती-बारी सिखाने की संस्थायें हैं। इत्यादि, इत्यादि।

इनमें से अधिकांश तो युरोपीय दशाओं और अनुभावों के फल हैं। इनके लिए जैसा संगठन चाहिए, जिस ढंग पर काम

---

* Yet see *Intensive Farming in India* by john Kenny, formerly Director of agriculure, Hyderabad, Deccan, Higginbothams, Ltd, Madras, 1922, p. 18; Report on the improvement *of Indian agriculture*, 1889, by Dr. Voelcker, Consulting Chemist to the Royal Agricultural Society of England, Eyre and Spottiswood, 1893, London; and Evidence of Dr. Wallick, Snperintendent of East India Company's Botanical Garden at Calcutta, Aug, 13, 1832, before a Select Committee of the House of Commons (Vol 11, Part 1, p. 195, of the Report thereof.).

करना चाहिए, जिस तरह पर इन संस्थाओं को काबू में रखना चाहिए वह सब भारतीय किसानों के लिए नया है, बिलकुल विदेशी है। और उनकी समझ में आना ही मुश्किल है, फिर उन कामों में कुशल हो जाना तो और भी कठिन है। उनमें से सब से अधिक तो ऐसी संस्थायें हैं, जिनके लिए या तो खास कानून बनना चाहिए या सरकार की ओर से प्रबन्ध की या रुपये की सहायता मिलनी चाहिए। India in 1925-26 * नामक अंग्रेजी ग्रंथ में पृ० १५२ पर दिखाया गया है कि पंजाब, मद्रास और बम्बई में जहां काम करने वाला किसान अपने खेतों का मालिक है, सहकार-समितियों को जितनी कठिनाइयां होती हैं, उनसे कहीं ज्यादा कठिनाइयां, संयुक्तप्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार और बंगाल में होती हैं, जहां के किसान लगान पर खेती करते हैं। कहते हैं कि कठिनाइयों के अधिक होने का कारण पिछले प्रान्तों में यह है कि असामी लोग ऋण के लिए जो जमानत देते हैं, वह काफी नहीं समझी जाती। खद्दर के आन्दोलन में ऐसी कोई रुकावट नहीं है। साहूकारों की जमानत के लिए जो कानून बना हुआ है उससे कहीं ज्यादा सादा और मौलिक खद्दर का आन्दोलन है। पंजाब और बम्बई की अपेक्षा वस्तुतः यह आन्दोलन बंगाल और बिहार में ज्यादा जोर से फैला हुआ है।

सिंचाई के बन्दोबस्त बड़े खर्चीले होते हैं और बांध नहर आदि तैयार करने में महीनों और बरसों लगते हैं, तब कहीं वह

---

* Edited by J. Coatman, Director of Public Information, Government of India, Government Central Publication Branch, Calcutta.

काम में आ सकते हैं। इस तरह के विशेष विलम्ब से उन प्रबन्धों की उपयोगिता घट जाती है और जिनको सब से अधिक मदद चाहिए उन्हें बहुत देर कर के और थोड़ी मदद मिलती है।

छोटी-छोटी जोतों को जोड़कर एक में करने में बहुत समय लगता है, बहुत झंझट का काम है, इसमें बहुत अन्याय हो जाने की सम्भावना है, किसानों को कष्ट होता है, आपस में फूट हो जाती है और सामान्यतः विशेष कानून की इसमें जरूरत पड़ती है। पच्छाँह में जितना झंझट होता उससे यहां भारत में कहीं ज्यादा है, क्योंकि यहां संयुक्त परिवार की परम्परा चली जा रही है, भारी भारी ऋण जारी हैं, और कई बातों में जाति के विविध नियम बाधक होते हैं।

यद्यपि चरखा-प्रचार को गांधीजी खेती के सुधार के आगे रखते हैं, तो भी खेती की जरूरतों से न तो वह बे-खबर हैं और न गाफिल हैं। भारत की खेती के लिए तीन बड़ी जरूरी चीजें हैं, अधिक जल, अच्छे ढोर, और अधिक खाद। गांधीजी बड़े परिश्रम से इनमें से दो को बढ़ाने का जतन कर रहे हैं। उन्होंने जल निकालने के एक यंत्र के बनवाने और प्रायः लागत पर बिकाने का बन्दोबस्त किया है। यह एक बड़ा ही अद्भुत, सादा और कामकाजी यंत्र है जो कुँए में लगाकर भैंसों या बैलों से खिचवाया जाता है। वह गो-सेवा संघ के सभापति भी हैं और उस संस्था के द्वारा दूध, दही आदि की तैयारी, खाल की कमाई, ढोरों की नसल का सुधार और पालन और रक्षा की अच्छी से अच्छी विधियों को काम में लाने को प्रोत्साहन दे रहे हैं। यह

सभी विधियां भारतीय अवस्था, धर्म्म और रीति-रिवाज़ के अनुसार हैं।

सहकार-आन्दोलन की तरह खद्दर के कारबार से भी गाहक की मांग में अन्तर पड़ जाता है। परन्तु यह अन्तर सहकार-आन्दोलन वाले अन्तर से इस बात में भिन्न है, कि इससे मांग का प्रकार और पैमाना दोनों बदल जाता है और माल की तैयारी और गाहक को देने के संगठन और प्रकार को भी बदल देता है। इस तरह सहकार-आन्दोलन से कहीं अधिक जड़ से उपज और बँटाई दोनों के फलों और दशाओं को सुधार देता है। पहले और आठवें अध्याय में यह बातें विस्तार से दिखाई गई हैं।

प्रायः सभी रूप के आर्थिक और सामाजिक संगठनों को सफलता पाने के लिए जिस सभ्यता के अन्दर उन्हें बढ़ना है, उसीके बिलकुल अनुकूल और अनुरूप होना चाहिए। भाव में, विधि में, परम्परा में सब तरह से खद्दर-आन्दोलन भारतवर्ष के अनुकूल है। इसलिए पच्छाँह से निकले हुए सभी सुधारों से उसमें अधिक सुभीता है

एक और तरह के सुधार का भी प्रचार किया जाता है कि आजकल के कल-बल से चलने वाली भारी मिलें बनें। अर्थात् भरसक जल्दी से जल्दी सारा भारत व्यवसाय-वादी हो जाय और सर्वत्र मिलें खुल जायँ। बड़े-बड़े शहर मिलों के ही बने हों और बिजली से चलने वाली कलों से सुसज्जित छोटे-छोटे कारखाने घर-घर हो जायँ। परन्तु इस योजना को किसी भारी पैमाने से चला लेना बहुत दिनों का काम है, बहुत भारी पूंजी लगेगी

और उसीके साथ विदेशी महाजनों की मुट्ठी में सारा कारबार हो जायगा, सूद के रूप में विदेशों की ओर धन की धारा बहेगी और धन अधिक खिंच जायगा और इसीके पीछे ऐसी सामाजिक बाधायें और मुसीबतें आयेंगी कि जिन्हें भारत-निवासियों का कुछ भी ध्यान है वह इस विधि से हिचकेंगे। शायद कोई दिन आवे कि भारतवर्ष व्यवसाय-वाद के दबाव को मान ही जाय। परन्तु ऐसा होना ही हो, तो वह दिन धीरे-धीरे आवे और नये सामाजिक जीवन और अनुशासन के अधीन उसका जन-समुदाय धीरे ही धीरे हो। शायद महाब्रिटेन भी भारत में उद्योग-वाद के विस्तार को तेजी से बढ़ाने का इच्छुक नहीं है; क्योंकि उसे भय है कि कहीं ब्रिटिश माल बनाने वालों का बाजार टूट न जाय और ब्रिटेन में बेकारी और भी न बढ़ जाय। हम तो यह दिखा ही चुके हैं कि चरखा एक यंत्र है और ईंधन से अधिक बल देने वाली चीज धूप है। इनको काम में लाना अवनति नहीं है, बल्कि उन्नति के मार्ग में बड़ी बुद्धिमानी से आगे बढ़ना हुआ। भारत में आज ज्यादा जरूरत अधिक और खर्चीले कारखानों और मिलों की नहीं है, बल्कि बैठे, बेकार मानव-बल को सीधे से सीधे और जल्दी से जल्दी काम में लाने की जरूरत है।

बहुत से लोगों ने "घरेलू व्यवसायों" का जोरों से समर्थन किया है। प्रायः उनके लिए सरकारी सहायता भी मांगी जाती है। साधारण रीति से तो इस नाम से ऐसे आराम और शौक के सामान घर पर तैयार करना समझा जाता है जिनके लिए मांग बहुत थोड़ी है। इस दृष्टि से तो यह साफ जाहिर है कि खद्दर-कार्य्यक्रम इससे कहीं अच्छा है। जो लोग हाथ की बुनाई

को सहायक काम के ढंग पर बढ़ाने के लिए अनुरोध करते हैं उनको जो उत्तर गांधीजी ने दिया है वह परिशिष्ट "क" में दिया गया है।

कला की शिक्षा का भी प्रस्ताव किया गया है, जिसमें विशेष स्थान कारीगरी और खेती-बारी को दिया गया है। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि जब उस प्रकार की सेवा की देश में विस्तृत और बराबर मांग या जरूरत नहीं है, तब लड़कों को शिल्प, कारीगरी या इंजिनियरी की शिक्षा ही क्यों दी जाय? और जो लोग खेती-बारी सिखाने की बात-चीत करते हैं वह तो विदेशी भारी-भारी कलों के द्वारा जोताई, बनावटी खाद, बड़े बड़े चकों में खेती और पच्छाहीं रीति से नई नई बुवाई और उपज को ध्यान में रखकर बात-चीत करते हैं। भारतीय दरिद्र किसान को कहां से धन मिलेगा कि खेत जोतने को कल खरीदेंगे, फिर इकट्ठे सैकड़ों एकड़ खेत किसके पास हैं कि कल से जोतवाने में या पच्छाहीं रीतियों के बरतने में किफायत होगी? और यह कहो कि सहकारिता के भाव से मिल-जुल कर यह सब करें, तो ऐसी कीमती विदेशी चीजों को मिल-जुल कर काम में लाना सीखने को अभी उन्हें बहुत देर है। बात यह है कि समस्या इस समय थोड़ी बहुत है समय के साथ दौड़ में बाजी लेने की, इसलिए भरसक जो-कुछ उपाय हो वह जल्दी से जल्दी होना चाहिए।

बहुत से लोग चाहते हैं कि सब को जबर्दस्ती शिक्षा दी जाया करे। बात तो है बड़ी अच्छी, परन्तु यह रीति है बड़ी खर्चीली और काम भी होता है बड़ी देर में। इससे सब रोग भी नहीं छूटते, जैसा कि अमेरिका के संयुक्त-राज्यों का अनुभव है। इसके

सिवा शिक्षा ठीक प्रकार की होने के लिए, आज-कल की अपेक्षा भारतीय सभ्यता और जीवन के अधिक अनुकूल बनाने की जरूरत है। बिलकुल भिन्न रीतिसे सीखे हुए शिक्षकों की एक पीढ़ी ही तैयार होनी चाहिए। हर तरफ से भारतीय मन पर पच्छाहीं विचारों और आदर्शों का पूरा पलस्तर कर देने से न बनेगा। केवल अक्षर सीख लेना ही न तो बुद्धिमता का मूल है और न धनवान् होने का द्वार है। सच्ची शिक्षा को तो जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी फैलने दीजिए। परन्तु विश्वव्यापी शिक्षा के पहले आर्थिक बल होने की बड़ी आवश्यकता है।

सन् १९२६-२७ के जाड़ों में पार्लमेंट के साम्यवादी सदस्य श्री सकलतवाला भारत में आये थे। उन्होंने गांधीजी को एक सिरे से इस बात का दोषी ठहराया कि उन्होंने अपनी योग्यता को और जनता पर अपने महान् प्रभाव को इस काम में नहीं लगाया कि उसे युरोप के श्रमजीवियों के संघ के अनुरूप संगठित करें और उनमें साम्यवाद (Socialism) और समाज-सत्तावाद (communism) के भाव भर दें। श्री सकलतवाला के आक्षेप का एक उत्तर तो पिछली गणना के अंकों में मिल जाता है। इनसे पता लगता है कि ब्रिटिश भारत और देशी-राज्यों में सभी मिलों और कारखानों में सब मिलाकर १४ लाख ८० हजार १२३ आदमी काम करते हैं। अब इस अंक का १० करोड़ ७० लाख खेती पर काम करनेवालों से मुकाबला कीजिए, फिर बतलाइए कि मजूर-संघ आदिक संगठनों के अनुकूल वायुमंडल इस देश में कितना थोड़ा है। सभी युरोपीय देशों के इतिहास से प्रकट होता है कि बड़े पैमाने पर किसानों का संगठन करना

कितना भारी और कठिन काम है। सहकार-समितियां कठिन हैं और उनके बनने में बड़ी देर लगती है। परन्तु मजूर-संघ के ढंग के संगठन और भी कठिन और समय लेने वाले हैं। अमेरिका के दो-तीन राज्यों में एक प्रकार का राजनैतिक किसान-संघठन कुछ थोड़ा-सा सफल हुआ है, परन्तु वहां की सभी बातें भारत की स्थिति से एक-दम भिन्न हैं। शुद्ध आर्थिक उद्देश्य से बने स्वदेशी रूप और पद्धतिवाले स्थानीय स्वाधीन संगठनों को सफलता शायद मिल सके।

यह बात तो स्पष्ट ही है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के घट जाने से जो बेकारी हो गई है उसे न तो साम्यवाद घटा पाया और न समाज स्वत्ववाद ने ही उसे कम किया। दूर करने की तो चर्चा ही क्या परन्तु, जो हो, चरखा तो अवश्य ही बेकारी को घटा सकता है।

श्री सकलतवाला (और इसी तरह बहुत से साम्यवादियों के भी) बल, उत्साह, बन्धुभाव, स्वार्थत्याग, साहस और सचाई आदि गुणों पर कोई मुग्ध हुए बिना नहीं रह सकता। परन्तु यद्यपि श्री सकलतवाला भारत के ही हैं, तो भी भारत के देहात के सम्बन्ध में उनकी अनभिज्ञता भी थोड़ी नहीं है। इस ग्रन्थ का लेखक पूँजीवाद को अच्छा समझने वालों में नहीं है, परन्तु वह इतना कहे बिना नहीं रह सकता कि हम लोगों में से सभों की तरह साम्यवादी और मार्क्स के अनुयायी भी अपने-अपने दोष रखते हैं, एकदम निर्दोष नहीं हैं।

एक और सुधार जिसके लिए जल्दी ही जरूरत है, सब प्रकार से सार्वजनिक स्वास्थ्य-रक्षा है। परन्तु यह चीजें भी बहुत

खर्च माँगती हैं। (Kenya) केन्या नाम की अपनी पुस्तक में (Dr. Normanleys, M.B., D.P. H.) डाक्टर नार्मन लेज महोदय पृष्ठ २७५ और २८६ पर इन कठिनाइयों को स्पष्ट रूप से यों * लिखते हैं—

स्वास्थ्य-रक्षा केवल शिल्पविद्या की बात नहीं है। अख़ीर में तो वह व्यक्तिगत क्रियाओं और स्वभावों पर ही निर्भर है। और यह भी लोगों की अपनी-अपनी आमदनी पर निर्भर है। हमारे ही नगर के दरिद्र ऐसे थे कि उनसे स्वास्थ्य-रक्षा वाले बिलकुल निराश थे।........हम लोगों की आंशिक सफलता व्यापक और अनिवार्य शिक्षा से, और सन् १८०० से लेकर १९०० तक में मजूरी की दर बढ़ते रहने से हुई है।........ मलेरिया बिलकुल उतनी ही कठिन समस्या है। मच्छरों के पैदा होने की जगहों को नष्ट करने और मसहरियाँ लगाने से मलेरिया रोका जा सकता है। पहले का यह अर्थ है कि गढ़ों और नालों को घासपात से, जिसमें मच्छर की सन्तान छिपी रहती है, बराबर लगातार परिश्रम से साफ़ करता रहे। परन्तु गांवों में नाली बनाने और सफाई रखने को और मसहरी लगाने को रुपये कहां हैं?......यही बात कृमि-रोग के लिए भी है जूता पहनना ही दवा है।......केनिया में स्वास्थ्य-रक्षा वहाँ के सम्पत्तिशास्त्र के ही अन्तर्गत है।" भारत की भी यही दशा है।

......डाक्टर बोयड ने† ब्रेज़िल के नीचे किनारों में मलेरिया के

---

* Hogarth press, London, 1924.

† "Studies of the Epidemiology of malaria in the

फैलने के बारे में यों लिखा है। "जान पड़ता है कि बीमारी के फैलने न फैलने पर निवासियों की आर्थिक दशा का भारी प्रभाव पड़ता है। जिन-जिन भागों के निवासी प्रायः दरिद्र हैं उन-उन भागों में मलेरिया की बीमारी सबसे अधिक निरन्तर बनी रहती है। जहाँ कहीं साम्पत्तिक अवस्था सुधरती है, वहाँ बीमारी का लगातार बना रहना घट जाता है। इसका अधिकाँश कारण यही जान पड़ता है कि खाने-पीने के सुभीते से पौष्टिक भोजन मिलता है, जिससे रोग का भी मुकाबला हो सकता है और इलाज भी अधिक सुलभ हो जाता है।"

गांधीजी पूरे तौर पर यह मानते हैं कि स्वास्थ्य-सुधार की बेतरह जरूरत है। भारत में वह जब से है तब से ही इस पर जोर देते आये हैं और साबरमती-आश्रम में बहुत ही सादी और सस्ती रीति से उसे व्यवहार में लाकर उन्होंने दिखाया है कि किस हद तक क्या हो सकता है।

जान पड़ता है कि बहुतेरी सुधार-योजनाओं में भारतीय स्थिति के मनोविज्ञान पर ध्यान ही नहीं दिया गया है। मुसलमानों के आने के समय से आज तक यहाँ के किसानों की क्या दशा रही है? लगभग ९०० बरस से यहां के किसान पराधीन रहे हैं, अत्याचार सहते रहे हैं, घोर दरिद्रता और ज्वर आदि अनेक रोगों से और आये दिन के दुर्भिक्ष से जर्जर हो गये हैं, और

Coastal Lowlands of Brazil" by Mark F Boyd, M. D. Contributed in *The American Journal of Hygiene* Baltimore, Md. U. S. A., for May 1926, at page 254.

बीते सौ बरसों से तो बहुत भारी पैमाने पर हर साल बेकारी की दुर्दशा उठाते रहे हैं। साधारणतया उनका शरीर दुर्बल है, (यद्यपि यह दुर्बलता भिन्न जिलों और प्रान्तों में भिन्न परिमाण की है) वह निरक्षर हैं, वह रूढ़ियों के शिकार हैं, भावशून्य हैं, उत्साह-हीन हैं, शरीर से साहस-हीन और डरपोक हो गये हैं। [यह विशेषता भी विविध समूहों में विविध परिमाणों में है, तो भी प्रायः सब ने किसी विशेष परिस्थिति में अहिंसात्मक प्रतिरोध में अद्भुत नैतिक साहस के प्रमाण दिये हैं।] उनमें अपनी ओर से कोई उपज नहीं, अपने जी से कोई काम नहीं उठा सकते, कभी आगे बढ़ने की हिम्मत नहीं होती, अपने ऊपर विश्वास या भरोसा नहीं है। अपने पांवों खड़े नहीं हो सकते। ऐसे लोगों में जब उन्नति और सुधार की कोशिश की जाय तो आरम्भिक आगे बढ़ने वाले कदम बहुत आसान, बहुत छोटे, सुगम, सुलभ, वास्तविक होने चाहिए और ऐसे होने चाहिए कि देखने लायक अधिक शारीरिक भलाई तुरन्त ही स्पष्ट हो जाय। यह बिलकुल वैसा ही है जैसे बहुत काल की भारी बीमारी के बाद कोई रोगी फिर से चलने की कोशिश करे। ऐसी दशा में आरम्भ बहुत धीरे-धीरे और छोटे पैमाने पर ही हो सकता है। पहले ही पहल भारी काम हो नहीं सकता। और जो पहले ही असफलता हुई तो रोगी बिलकुल हताश और उदास हो जायगा। परन्तु पहले ही पहल छोटी-छोटी विजय ठीक प्रकार का उत्साह पैदा करती है। जब उभड़ना शुरू हो गया और ठीक स्थिति बन गई और उसकी रक्षा होने लगी, तो बल और सुधार बहुत जल्दी बढ़ता है और बहुत जल्द प्रमित दशा को पहुँच जाता है। इन नैतिक और

मानसिक दशाओं के लिए और सभी योजनाओं से अधिक अनुकूल चरखे की ही योजना है।

इसका सार यह है कि चरखा-कार्यक्रम में सुधार के और जतनों को रोकने या हटाने की जरूरत नहीं है। किन्तु चरखे में कुछ ऐसे सुभीते दीखते हैं कि लाचार होकर इन सब सुधारों से अधिक जोर चरखे पर ही देना पड़ता है। यह सुभीते क्या हैं ? इस देश की भारी आबादी के भारी अंश के सहज-स्वभाव, विचार-शैली, व्यवहार, रीति-रिवाज सबसे यह (चरखा) अत्यंत अनुकूल है। यह अत्यंत सरल है। आवश्यकता तुरन्त पूरी करने की इसमें योग्यता है। इसके बनाने और चलाने में खर्च अत्यन्त कम लगता है। इसमें बहुत सीधे-सादे संगठन की आवश्यकता है। इसमें सरकारी सहायता या इसके लिए कोई ख़ास क़ानून बनने की ज़रूरत नहीं है। इसमें विदेशी पूँजी का कोई काम ही नहीं है। किसी से कोई भारी पूँजी लेने या लगाने की जरूरत नहीं है। बहुत सादी और सस्ती रीति से, जिसमें बहुत थोड़ी कार्य-कुशलता की जरूरत है, यह चरखा कच्चे माल को और उस भौतिक बल के मूल-स्रोत को काम में लाता है, जो भारी मात्रा में मौजूद है, और अब तक काम में नहीं आया है। कातने वाले को इससे लाभ का पूरा निश्चय है, जरा भी दगदगा नहीं है। कोई अपने अधिक लाभ के लिए यह रोजगार छीन नहीं सकता। खेती या स्वास्थ्य के सुधार में धन या विद्या की जितनी पूँजी चाहिए उतने की यहाँ जरूरत नहीं है। यह बिलकुल स्वदेशी व्यवसाय है। इससे लोगों का नैतिक विकास होने में, आशा बढ़ने में, काम में अगुआ होने के लिए उत्साह में, लगन और परिश्रम में, स्वाव-

लम्बन में, स्वाभिमान में और इन सब गुणों के विकाश में तुरन्त मदद मिलती है। इसमें पढ़े-लिखे लोगों की कम से कम मदद की ज़रूरत पड़ती है।

कताई का काम व्यक्तियों और समूहों के स्वभाव को बदल देगा और उनकी आर्थिक स्थिति ठीक कर देगा। इस तरह कताई से ही और सुधारों की भी नींव पड़ेगी। गाँधीजी ने सन् १९२५ के नवम्बर की पहली तारीख के अंक में 'यंग-इण्डिया' में लिखा है—

"चरखे के चारों ओर, अर्थात् उन लोगों में जिन्होंने सुस्ती छोड़ दी है और सहकारिता का लाभ समझ चुके हैं, राष्ट्र का सेवक ऐसे-ऐसे सैकड़ों लाभ के काम की योजना फैलावेगा, जैसे मलेरिया से युद्ध, स्वास्थ्य का सुधार, गावों के झगड़ों का निबटारा, ढोरों की रक्षा और अच्छे ढोरों की नसल बढ़ाना, इत्यादि। जहाँ कहीं चरखे का काम पक्की-पोढ़ी नीव पर जम गया है, गांव वालों की और वहाँ के काम करने वालों की योग्यता और समाई के अनुसार यह सभी भलाई के काम चल रहे हैं।"

खद्दर का कार्यक्रम सभी रोगों का इलाज नहीं है। परन्तु भारत के साम्पत्तिक जीवन को फिर से जगाने के लिए खद्दर अवश्य ही सबसे अधिक असर रखनेवाला पहला काम है।

बारहवां अध्याय

दाम के रुपयों की कसौटी

मद्रास-सरकार के कताई-बुनाई के विशेषज्ञ श्री डी. एम. अमल-साद लिखते हैं कि—

"कल-बल से कातने वाले पुतली-घर के चलाने में पहले-पहल जो खर्च पड़ जाता है, वह है बहुत भारी सही, परन्तु आजकल के कल के भाव पर ही ऐसे कारखाने में २० अंक का सूत 'कत-सकना चाहिए और कल के घिसने, छीजने, इमारत, बीमा आदि के खर्च और कच्ची रुई के दाम देकर उसके कातने में पौंड (अधसेरा) पीछे ग्यारह आने से ज्यादा कताई न लगनी चाहिए। आज-कल सूत के दाम १≈) पौंड बजार में लग रहे हैं, परन्तु हम मान लें कि बिक्री का भाव १) प्रति पौंड भी है, तो मिल से लागत पूंजी पर का मुनाफ़ा १६) सैकड़ा जरूर मिलेगा।*"

इतना लिखकर अमलसाद जी यह बहस करते हैं कि मिल का केवल अस्सीवां अंश लगाकर ही चरखे की कताई उतनी

---

* *Handloom Weaving in the Madras Presiednc*y by D. M. Amalsad, Government Press, Madras, 1925, P. 18.

ही,—२० अंक का एक पौंड सूत,—हो, तो भी मुनाफे के हिसाब से चरखे से मिल ही अच्छी है।

इसका मतलब यह हुआ कि अमलसादजी किसी माल की तैयारी की विधि के ठीक होने की कसौटी कीमत और मुनाफ़ा के रुपयों को ही समझते हैं। उनकी पुस्तिका पढ़ने से प्रकट होता है, कि यद्यपि वह यह मानते हैं कि मनुष्य की और भी जरूरतें हैं, जिनका पूरा होना जरूरी है, तो भी उनकी राय में सिक्का ही अनिवार्य्य, ठीक ठीक और उपयुक्त मान-दंड है। रुपया ही और सब साधनों का सार है, और जितने साधन हैं सब की नाप-जोख कर सकता है। इस बात में अनेक अर्थशास्त्रियों, साहूकारों और कारबारियों से उनका मत एक ही है। तो भी औद्योगिक शिल्प-कला और समाज-शास्त्र के विकास से इस सम्बन्ध में कुछ आपत्तियां उठने लगी हैं।

मानें लो कि हम पूंजी को मानव, पाशव, जल-बल या ईंधन से निकली हुई शक्ति के खर्च होने का नतीजा समझते हैं। और बात भी ऐसी ही है। यह भी याद रहे कि आजकल का भौतिक विज्ञान कहता है कि पदार्थ-मात्र शक्ति का रूपान्तर है, मानों एक तरह से शक्ति ही जम गई हो। इसलिए चाहे नकद रुपये के रूप में हो, चाहे घर के रूप में हो, या सामग्री के रूप में हो, हमारी पूँजी एक तरह की बँधी हुई शक्ति है। सूर्य्य की शक्ति की अविरल धारा सृष्टि के आरम्भ से आजतक बराबर धरती पर आती रही है, पूँजी भी इसी शक्ति का एक छोटा-सा अंश है। अपने काल-मान को जरा बढ़ा दें और सौ-सौ बरस के समय को इकाई मान लें, तो सहज ही यह हमारी समझ में आ सकता है, कि

कपड़े की मिल के रूप में सौर-शक्ति, जो कुछ काल के लिए जम गई है, वह उस बड़ी शक्ति की धारा में जरा-सी रुकावट होने से भँवर-सी बन गई, जिससे मनुष्य-जाति का पालन-पोषण होता है। छीजन, घिस-पिस जाना कल की चाल का उठ जाना इत्यादि इन बातों के आंशिक लक्षण हैं।

अब इसी दृष्टि से देखिए। अर्थात् अपने खर्च का अन्दाजा हम रुपये-पैसे या सिक्कों में न करें, बल्कि शक्ति के व्यय के रूप में करें, तो पता लगता है कि चरखे और करघे की अपेक्षा कपड़े की मिल से जो गज-भर कपड़ा बनता है, उसमें अत्यन्त ज्यादा खर्च पड़ता है। देखिए तो सही, इस्पात के भारी-भारी गार्डर, बैलट, अंजन, कल, औजार और मिल की और सामग्री, इन सब में कोयले की शक्ति के लाखों अश्वबल खर्च हो गये हैं, और उसीके साथ-साथ उन कारखानों में, जिनमें यह तैयार हुए, काम करने वालों की कितनी अपार मानव-शक्ति लगी। फिर रेल और जहाज़ की ढुलाई में जो कोयला खर्च हुआ, मिल तक पहुँचाने में जो शक्ति लगी और फिर तैयार मिल में सब काम करने वालों ने जो अपनी शक्ति लगाई, सब जोड़ बटोर कर शक्ति का तो अपार और अपरिमित व्यय हुआ है।

इससे मुकाबला करके अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि हाथ के औजारों से, जब स्त्री और पुरुष उतनी ही मात्रा में कपड़ा तैयार करते हैं तो कितनी कम सौर शक्ति का खर्च होता है। कपड़ा बनाने में श्रम की इकाई के ही नाप से, अर्थात् एक आदमी के घंटे भर की मेहनत को एक मानकर, कपड़ा तैयार करने में मिल चरखे से २८६ गुना अधिक काम कर सकती है।

परन्तु यदि घंटे-भर में अश्व-बल का हिसाब लगाया जाय और इमारतों के कलों के, अंजनों के बनाने और काम में लगाये जाने और हरबार मनुष्य-बल के लगाने का भी हिसाब किया जाय तो कलपीछे, या बने कपड़े के गज पीछे निस्सन्देह चरखा कहीं अधिक योग्य और कहीं अधिक सस्ता ठहरेगा।

इस विचार से कि संसार-भर में जितने ईंधन से शक्ति पैदा की जा रही है, उतना कुल मिलाकर ईंधन का खर्च † बढ़ रहा है। क्या अब इस बात की आवश्यकता नहीं है कि अर्थ-शास्त्रियों का समुदाय साम्पत्तिक कामों को शक्ति की इकाइयों में नापने लग जाय और खर्च होने वाले रुपयों की इकाइयां भी जोड़ कर दोनों का मुकाबला करे? यदि हमारा विश्वास है कि मानव सभ्यता स्थायी और अचल है, और कम-से-कम एक हजार बरस तो जरूर रहेगी, तब तो हमें स्थिति की यथार्थता को ठीक रीति पर समझना चाहिए और मनुष्य-जाति कुल कितने ईंधन की शक्ति को आगे चलकर खर्च कर सकेगी इसे सोचना चाहिए। अपनी ईंधन की शक्ति खर्च करके क्या उड़ाऊ की तरह रहना देशभक्ति कहलावेगी? क्या सौर-शक्ति की अपनी सालाना आमदनी को बेकार खोना उचित होगा?

इस प्रकार नापने के लिए शक्ति की इकाइयां काफी भी नहीं ठहरतीं। पच्छाँह में काम करने की "योग्यता" को अक्सर भूल से "वेग" समझा करते हैं। इसलिए लोगों का ख्याल हो गया है कि किसी काम में जब समय कम लगता है, तो उसमें योग्यता या उपयोगिता अधिक ही है। फिर अधिक योग्यता और

† परिशिष्ट (घ) देखिए।

यांत्रिक योग्यता को भी अक़सर लोग एक ही बात समझते हैं। परन्तु आर्थिक योग्यता का यथार्थ अनुमान करने के लिए समय या वेग ठीक नाप नहीं है। मान लीजिए कि एक मकान दम के दम में डैनामाइट के जोर से गिरा दिया जाय। काम तो बड़ी जल्दी हो जायगा। यांत्रिक योग्यता तो वेग के हिसाब से बड़ी अच्छी हुई। परन्तु आर्थिक दृष्टि से तो यह विधि बहुत कम उपयोगी हुई, क्योंकि जिस धड़ाके से टूटकर मकान गिरा उससे अड़ोस-पड़ोस के घर और अनेक कामकाजी और घर की क़ीमती चीजें नष्ट हो गईं। इसी तरह कल और कारखाने जो माल बड़ी जल्दी तैयार किया करते हैं वह सम्पत्ति की दृष्टि से बड़े अनुपयोगी हो सकते हैं। क्योंकि उनसे मालिकों में, मजूरों में और गाहकों में आपस के वैयक्तिक और सामाजिक गुणों का नाश हो जाता है। साम्पत्तिक मोल प्रायः ऐसे विकट हैं कि किसी एक इकाई या प्रमाण से उनकी अटकल नहीं हो सकती।

अगर हम मान लें कि साम्पत्तिक कामों को नापने के लिए रुपया एक निश्चित और काम की इकाई है, तो भी इस तरह के नाप के फलों से सम्पूर्ण साम्पत्तिक सत्य का पता नहीं लगता। और नापों के परिमाणों से या विचारों से भी काम लेकर उस नाप को पूरा करना पड़ेगा। जितने महत्व के साम्पत्तिक विचार हैं, रुपया सब का सार कदापि नहीं है। केवल इतना ही नहीं है कि रुपये से शक्ति के तत्त्वों का पूरा नाप नहीं हो सकता, बल्कि उससे सामाजिक मानसिक, नैतिक, और भावात्मक तत्त्वों का भी पूरा नाप नहीं हो सकता,—और यह तत्त्व यद्यपि बहुधा तोले नापे नहीं जा सकते, तो भी स्थायी सभ्यता के लिए तो बहुत जरूरी हैं।

निस्सन्देह यह कहा जा सकता है, कि पूँजीवाद में जहाँ तक रुपया साम्पत्तिक कूतों (और दूसरी कितनी ही बातों की भी) ठीक और श्रेष्ठ नाप या प्रमाण माना गया है, वह एक अधूरी और कभी कभी ग़लत वजन और नाप की अ-वैज्ञानिक प्रणाली है। यह शायद उसकी एक भारी बुराई है, क्योंकि वह किसी भी रचना के उचित उपयोग के लिए की जाने वाली तमाम कोशिशों को बड़ी बारीकी से भीतर ही भीतर छिन्न-भिन्न कर देती है। यदि भौतिक या रासायनिक शास्त्री या शिल्पी अधूरे नापों से काम लेते तो क्या वे अपने कार्य-क्षेत्रों में सच्चे और स्थायी परिणामों पर पहुँच सकते थे ? अधूरी और आंशिक रूप में सच्ची कूत की इकाइयों से अन्त में किसी तरह सच्चे और उम्दा नतीजे नहीं निकल सकते । इस तरह की किसी काम चलाऊ तजवीज पर अमल करने वाले कोई भी व्यक्ति, फिर वे कितने ही समझदार और दयालु क्यों न हों, लगातार अच्छे और सन्तोषजनक परिणाम नहीं पा सकते—हाँ, दैवयोग की अथवा मानवी व्यवहारों में होने वाली आकस्मिक घटनाओं की बात दूसरी है। और सम्भवतः कोई भी आर्थिक—सामाजिक प्रणाली, फिर वह चाहे साम्यवाद (Socialism) हो संघ-वाद (Guild socialism) हो, कुटुम्ब-वाद (Communism) हो, फासिज्म हो, अराजकवाद (Anarchism) हो सहयोग हो, औद्योगिक प्रजातन्त्र हो औद्योगिक एकतन्त्र हो अथवा और कोई 'वाद' या 'तन्त्र' हो-जो कि रुपये को अपनी ठीक या श्रेष्ठ नाप अथवा साम्पतिक कूत की अटकल मान कर वरतती हो तो उसकी भी यही दशा होगी साम्पत्तिक कामों में—जो कि मनुष्य-जीवन का भौतिक

आधार है—रुपया वैसा ही अधूरा नाप-साधन है जैसा कि तान-सेन के संगीत के लिए कोई तम्बूरा हो। अतएव रुपये के बजाय हमें कोई और बेहतर सहायक इकाइयाँ तजवीज करनी होंगी।

इस पुस्तक के अधिकांश अध्यायों में यह सभी विचार सम्मिलित हैं। खद्दर के शिल्पीय पक्ष, लाग-डांट, खर्च की बचत और बेकारी के सम्बन्ध में यह विचार समाविष्ट हैं। परन्तु शायद यह अच्छा होगा कि इस विषय पर जोर दिया जाय और बिल-कुल स्पष्ट कर दिया जाय। भारतीय किसान के लिए अकेले रुपया अदला-बदली के मोल का ठीक नाप नहीं है, कुछ तो ऊपर कहे हुए कारणों से और कुछ इसलिए कि उसके सामाजिक और गृहस्थी के ढंग विशेष प्रकार के हैं। कड़ाई के साथ रुपये की परख लगाने से इस तरह की आर्थिक स्थिति हो जाती है कि भारतीय किसान बेकार हो जाता है और भारतवर्ष का क्षय होने लगता है। इसलिए हमें चाहिए कि बिलकुल शुद्ध और अनुकूल नाप-जोख और मोल-भाव से काम लें और इस तरह अर्थशास्त्र को अधिक वैज्ञानिक, अधिक उपयोगी और अधिक विश्वास और सम्मान का पात्र बनावें, और साथ ही उससे अपनी बुद्धि भी बढ़ावें।

इस बहस को केवल सम्पत्ति-शास्त्र के पक्ष में रखकर और अर्थ-शास्त्रीय एवं शिल्पीय शब्दों का ही प्रयोग कर के इस ग्रन्थ के लेखक का यह उद्देश्य नहीं है कि लोग समझें कि ग्रन्थकार भारत का शुद्ध पार्थिव उद्देश्य दिखाना चाहता है। खद्दर-आन्दो-लन के* भावात्मक, मनोवैज्ञानिक, मानुषिक, नैतिक वा परमा-

---

* See his articles "The Morals of Machinery".

र्थिक पक्षों और उद्देश्यों से ग्रन्थकार अपनी आखें नहीं मूँदे हुए है और न उसका यह विश्वास है कि यह अधिक विस्तृत विचार अर्थ-शास्त्र से असंगत हैं। गांधीजी ने कैसा अच्छा कहा है और ग्रन्थकार इस कथन से सहमत है कि "वह अर्थशास्त्र असत्य है जो नैतिक मोल को नहीं मानता या उसकी परवा नहीं करता।"‡ सारी बहस में इन विचारों का प्रवेश रहा है, यद्यपि ऐसा स्पष्ट नहीं कहा गया। बहुत विस्तार और विकटता या विषमता से बचने के लिए यह स्पष्टता नहीं की गई। तो भी लेखक का विश्वास है कि गांधी जी के हृदय में जो विनय और मनुष्य मात्र से गम्भीर प्रेम है, उसके प्रसाद से ग्रन्थकार को भारत की ठीक-ठीक आर्थिक स्थिति के गम्भीर रहस्यों का जितना यथार्थ ज्ञान और विवेक हुआ है, उतना इन समस्याओं पर लिखने वाले किसी और मनुष्य को नहीं हो सकता। गांधीजी संसार के एक बड़े भारी साम्पत्तिक सुधारक हैं, क्योंकि वह सच्चे हृदय से ऐसा विश्वास करते हैं, और बराबर इस बात का आग्रह करते हैं और निरन्तर अपने ही उदाहरण से दिखाते रहते हैं कि जिस परिवर्त्तन की यथार्थ में आवश्यकता है वह है हृदय का बदलना। शेष जो कुछ है वह उसी क्रिया का बाहरी प्रकाश है।

Current thought, Madras, Feb,, 1926; Aspeots of spiritual and Moral Beauty in Charkha and Khaddar". *Modern Review,* Calcutta Nov. 1925. Also an article entilled "Khaddar" by Norah Richrds, in *Modern Revies,* Calcutta, March, 1926.

‡ Presidential Address to National Congress at Belgaum, reprinted in *Young India* Dec. 26, 1924.

उपसंहार

जैसा कि देखा जा चुका है, मैं तो खद्दर-आन्दोलन को उस संसार-व्यापी परिवर्त्तन का एक अंश समझता हूँ जो उद्योग-वाद के उद्देश्य, संगठन, और रीतियों पर प्रभाव डाल रहा है। यह किसी भारतीय सपना देखने वाले के बिगड़े हुए दिमाग़ की बे-ढंगी कल्पना नहीं है, और न पुरानी दकियानूसी और हानिकर एवं व्यर्थ की किफायत की विधि है, न पच्छाँह से बदला चुकाने के लिए उसपर साम्पत्तिक चढ़ाई है, और न उन दूसरे अर्थशास्त्रीय आन्दोलनों से कम व्यवहार-साध्य है जो आज जापान, तुर्की, चीन, अफगानिस्तान आदि एशिया के और भागों में चल रहे हैं। यह आन्दोलन सूर्य्य की शक्ति को अधिकाधिक काम में लाते रहने की विधि है, परन्तु इष्ट यह है कि वह शक्ति उसके मूल स्रोत से ही ली जाय और कोयला और मिट्टी के तेल में जो जमा है उससे न ली जाय। इस विचार से यह आन्दोलन भी पच्छाँह के उद्योगवाद के आन्दोलन के समान ही है। इन्हीं कारणों से मेरा विश्वास है कि इस आन्दोलन के समर्थक यह निश्चय रख सकते हैं कि वह युग के भाव के अनुकूल ही चल रहे हैं चाहे देखने में पच्छाहीं आंखों को भ्रम में डालने वाले कुछ दृश्य और अनुभव अनुकूल न समझ में आवें।

श्री बर्ट्रण्ड रसेल ने हाल में ही अपना यह विश्वास प्रकट किया है कि इतिहास के आरम्भ-काल से ही मनुष्य-जाति की

छाती को जिन भयानक जोखिमों ने दबा रखा था, उद्योग-वाद ने उसपर से उनका बोझा हटाना आरम्भ कर दिया है और अब वह मनुष्य को अपने जीवन और उसकी परिस्थितियों पर प्रभुत्व करने का नया भाव दे रहा है, साथ ही साथ ज्ञान की नई कल्पना और जीवन की ओर नई प्रवृत्ति भी पैदा कर रहा है।* जहां तक चरखा भी अधिकाधिक सौर-शक्ति के काम में लाने का और उससे पैदा हुई सम्पत्ति को अधिक समानता से बांटने का ढंग या साधन है, वहां तक अपनी ही रीति से वह प्रायः वही नतीजा पैदा कर सकता है।

जल-वायु भौगोलिक अवस्था और स्थिति, इतिहास, रीति-रवाज प्रत्येक देश का अपना-अपना अलग-अलग होता है। उसी के अनुसार प्रत्येक देश की सौर-शक्ति को काम में लाने की विधि भी अपनी-अपनी अलग-अलग होती है, कोयला, तेल, लकड़ी, जल-बल, हवा, पशु-बल, मनुष्य-बल आदि चाहे जिस ही विधि से हो। प्रत्येक देश ऐसी शक्ति का प्रयोग संचित और धारा दोनों रूपों में करता है और जीवन के पदार्थ और सामग्री को और बंधे और गतिशील दोनों तरह के औजारों को काम में लाता है, और प्रत्येक देश इन दोनों के प्रयोग में अपने ही अनुकूल सामंजस्य स्थापित करता है। हर योजना में अपने सुभीते और अपनी ही कठिनाइयां होती हैं। अदला-बदली और सुधार तो हुए ही हैं और होते ही रहेंगे। तो भी इनमें से एक भी भेद

---

* "The New Life that is Americas—" *New York Times Magazine* May 23, 1927.

निन्दा या उपहास के योग्य नहीं है। बल्कि हर एक का आदर होना चाहिए और हो सके तो उन्हें समझ भी लेना चाहिए।

फ़ेयरग्रीव ने लिखा है, कि एक पक्ष से विचार करने से इतिहास से सिद्ध होता है कि हरएक राष्ट्र ने जिस विशेष निजी रीति से सौर-शक्ति से काम लिया है, या नहीं लिया है, उसी रीतिपर उस राष्ट्र की सभ्यता बनी है। यदि यह बात ठीक है तो भारतवर्ष में भी सौर-शक्ति के प्रयोग के विशेष-रूप का स्वबोध-जनित पुनर्जीवन और प्रसार, चरखा-आन्दोलन जिसका एक उदाहरण मात्र है, भारत की पुनर्जागृति की पूर्ण समस्या पर बड़े महत्व का प्रभाव डाल सकता है।*

इस पुस्तक में इसी तरह की भारी-भारी समस्याओं के सम्बन्ध में मोटी रीति से थोड़ा थोड़ा विचार हुआ है। गांधीजी का कार्य्यक्रम आर्थिक रीति से ठीक है या नहीं, और भारतीय पुनर्जागृति का यह एक रूप हो सकता है या नहीं इस पर तो इस पुस्तक में विचार किया ही गया है। परन्तु साथ ही साथ यह भी समझना चाहिए कि कल-बल के उद्योग के मुकाबले सब तरह की हाथ की कारीगरी जिसका एक उदाहरण चरखा है अर्थशास्त्र की दृष्टि से अच्छी और उचित है या नहीं, अथवा बेकारी घटाने या रोकने का यह एक विशेष उपाय है या नहीं, अथवा दरिद्रता की समस्या पर एक नया हमाला है या नहीं, अथवा सहकार का स्वदेशी भारतीय रूप है या नहीं, या पूरब-पच्छिम के आपस के सम्बन्ध के एक रूप का या पच्छाहीं पूंजी और किसी और रूप के औद्योगिक संगठन के सम्बन्ध का एक उदाहरण है या

* *Geography and World Power* cited above.

नहीं, इस पर भी विचार किया गया है। अथवा, यह भी समझा जा सकता है कि एक सुन्दर, टिकाऊ सभ्यता की प्राप्ति के लिए बल और कल के प्रयोग का सामंजस्य या संयम की समस्या के एक भाग का काम चलाऊ और आंशिक विचार इस पोथी में किया गया है।

कुछ बड़ी समस्याओं के साथ यह सम्बन्ध किस प्रकार से हैं, यह दिखाने के लिए कुछ असम्बद्ध परन्तु अवसरानुकूल विचार परिशिष्ट "घ" और "च" के रूप में दे दिये गये हैं।

भारत की सम्पत्ति के तीन मूल स्रोत हैं, (१) भारतीय जनता के हाथ की परम्परा-प्राप्त कला-कुशलता और दक्षता। (२) उसके करोड़ों मनुष्यों के पास खर्च में न आने वाले समय की प्रचुरता। (३) सूर्य्य की शक्ति अर्थात् धूप की अति अधिकता। अन्त में मेरा यही कहना है कि यदि भारत इन तीनों स्रोतों का विकास करे और इससे जो धन उपजे उसे चरखे और करघे के व्यवहार से सारी जनता में समान भाग से बांटे तो अवश्य अपने साम्पत्तिक इष्ट को पहुँचेगा।

परिशिष्ट (क)

(१)

एकमात्र घरेलू धंधा-चरखा*

चरखा-आन्दोलन का ठीक ठीक अर्थ समझाने के लिए यह समझना आवश्यक है कि उसका अर्थ क्या नहीं है। उदाहरणार्थ हाथ कताई का यह अर्थ नहीं है कि, इससे कभी ऐसी उम्मीद भी नहीं की गई थी, कभी यह किसी मौजूदा उद्योग से स्पर्धा कर उसे हटाके एक भी हृष्ट-पुष्ट पुरुष को-अपने दूसरे-इससे अधिक आमदनी वाले, धंधे से हटा दे इसका यह उद्देश्य नहीं है। इसलिए हाथ कताई की आमदनी का दूसरे धंधे की आमदनियों से मिलान करना या आर्थिक दृष्टि से इसका मूल्य निश्चित करने के लिए नफ़ा और मिहनत पर नज़र दौड़ाने में भूल ही होगी। एक शब्द में चरखे से देश धनी होगा अवश्य किन्तु अगर कोई व्यक्ति चरखा चलाकर धनाढ्य बनने की आशा रक्खे तो वह धोखा खावेगा। इसका एक मात्र दावा यह है कि केवल एक यही भारतवर्ष की महा-समस्या का तुरत, व्यवहारिक और स्थाई समाधान कर सकता है। भारतवर्ष की यह महासमस्या है, उसकी आबादी के एक बहुत बड़े अंश का कृषि के अलावा कोई सहायक धंधा न रहने के कारण छः महीनों तक लाचार बेकार रहना

---

* महात्मा गांधी के दो लेख जो 'हिन्दी-नवजीवन' १९२६ के २१ और २८ अक्टूबर के अंक में छपे थे।

शहरों और गांवों के बिच-बिचवा बनियों ने गांवों में लंकाशहर (इंग्लैण्ड) के बने कपड़ों का कूड़ा ला इकट्ठा करके—और गांवों के प्राणदायी उद्योग अब हैं नहीं—यूरोप की नकल पर अपने घरू उद्योगों को नष्ट करके हम ने जो मिलें खड़ी की हैं, उन्होंने इस समस्या का सुलझाना और भी कठिन कर दिया है; क्योंकि इस के साथ उन्होंने सम्पत्ति के बे-हिसाब ना-बराबर बँटवारे का—धनी गरीब में बहुत बड़े फर्क का—नया पेचीदा सवाल उलझा दिया है।

१९ वीं सदी के पहले यानी सौ वर्ष पहले के डाक्टर बुचानन और मौन्टगोमरी मार्टिन के उत्तर भारत के वर्णन प्राप्य हैं जिन में उन्होंने कहा है कि शहर और गांव सम्पत्ति की भरपूरी से हरे-भरे थे; अपने आप ही वह विशाल संस्था गांवों और शहरों में चलती थी जिससे करोड़ों सूत कातनेवाले, लाखों जुलाहे और हजारों रंगरेज, धोबी, बढ़ई और दूसरे छोटे-छोटे कारीगर, सभी जिलों में सालों-साल काम में लगे रहते थे; इससे करोड़ों रुपये पैदा होते और समान-रूप से बिहार, बंगाल, संयुक्त-प्रान्त और मैसोर में बँटते थे। उस जमाने की हालत और अब की दुर्दशा का अन्तर देखने के लिए अगर सरकार की गवाही की जरूरत हो तो मर्दुम-शुमारी की रिपोर्टों में काफी मसाला मिलेगा। भिन्न प्रान्तों में एक किसान का औसत खेत देखिए—

भिन्न भिन्नप्रान्तों में एक किसान का औसत खेत

प्रान्त	औसत खेत (एकड़ों में)	प्रान्त	औसत खेत (एकड़ों में)
आसाम	२.१६	मध्य-प्रान्त और बरार	८.४८

बंगाल	३. १२	मद्रास	४. ९१
विहार और उड़िसा	३. ०९	उ० प० सीमा प्रान्त	११. २२
बम्बई	१-. १५	पंजाब	९. १८
बर्मा	५. ६५	संयुक्त प्रान्त	२. ५१

(देखो मर्दुम-शुमारी की रिपोर्ट १९२१ भाग १)

इन्हीं दरिद्र खेतों पर हमारे ७२ फी सदी किसानों का बसर होता हुआ समझा जाता है। मर्दुम-शुमारी की रिपोर्ट का कहना है कि इन खेतों का न तो आप ही पूरा उपयोग होता है और न ये किसान का ही पूरा समय ले पाते हैं। बंगाल के मर्दुमशुमारी के कमिश्नर मिस्टर टामसन कहते हैं—"बंगाल में असल खेतिहरों की संख्या है १ करोड़ १०½ लाख। इस का अर्थ हुआ फी किसान सवा दो एकड़ से भी कम खेत। किसानों की गरीबी का पता इन अंकों से ही लगता है। अब सवा दो एकड़ से भी कम खेत की आबादी में एक आदमी को साल में कुछ ही दिनों का काम रहता है। जब किसान खेत जोतता है तब, और जब फसल काटता है तब कुछ दिनों के लिए उसे काफी काम रहता है। मगर साल में अधिक दिन उसे या तो काम रहता ही नहीं या नाम-मात्र को थोड़ा-सा काम रहता है। इन्हीं लेखक का कहना है कि गहूँ पैदा करनेवाले संसार के सभी बड़े-बड़े देशों में फी किसान का औसत इससे कहीं अधिक पड़ता है। संयुक्तप्रान्त के सेन्सस कमिश्नर मि० एडी का कहना है कि "इस प्रान्त में खेती का काम कुछ थोड़े दिनों के लिए बड़ी मिहनत का होता है और साल के और दिनों में प्रायः बिलकुल बेकारी ही रहती है। ये बेकारी के दिन आलस्य में कटते हैं।" मध्य-प्रान्त के

कमिश्नर मि० हैटन कहते हैं कि बरसात के आखीर में होने वाली खरीफ फसल ही यहां की मुख्य फसल है। यह फसल खत्म हो जाने पर दूसरी बरसात शुरू होने तक किसानों को कोई काम नहीं रहता।" 'पंजाब की सम्पत्ति और भलाई' नाम की किताब में मि० कैलवर्ट लिखते हैं कि "पंजाब में एक किसान का औसत काम साल में १५० दिनों के काम से अधिक नहीं होता।" जब यह हालत एक ऐसे प्रान्त की है जहां के किसानों का औसत खेत अपेक्षाकृत काफी बड़ा है (९.१८ एकड़) और जहां सिंचाई के मुरब्बे का सैकड़ा हिन्दुस्तान में दोयम है तब दूसरे प्रान्तों की हालत का अन्दाजा सहज में ही लगाया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ये सब सरकारी अफसर इस बात में एक मत हैं कि किसानों की सारी आबादी एक साल में कम से कम ६ महीने तो जरूर ही बेकार रहती है। एक दो अफसरों ने तो इसी को किसानों की गरीबी का खास कारण बताया है। ग्रीन साहब के "रूरल इन्डस्ट्रीज आफ इंग्लैंड" के अनुसार जब "लंकाशहर में जहां फी किसान औसत खेत २१ एकड़ है, यह समझा जाता है कि अगर किसानों को जाड़े के दिनों में और बुरे मौसिमों में पुराने जमाने के जैसा कुछ आमदनी के काम मिल सकते तो बड़ी न्यामत समझी जाती". और इटाली में जहां उस देश का अपना ही कपास का मुख्य एक व्यवसाय है, "प्रायः हर एक जिले के किसानों की स्त्रियां जहां रेशम होता है, सूत कातने में बराबर लगी रहती है," तब हिन्दुस्तान ऐसे विशाल देश में खेती से सम्बद्ध किसी सहायक घरू उद्योग

की परमावश्यकता को बतलाने के लिए तर्क की जरूरत न पड़ेगी।

मगर यह सहायक घराऊ धन्धा कौनसा होना चाहिए, इस विषय में बहुत तर्क-वितर्क होता है—हमेशे से होता चला आया है; मगर विशेष कर के चरखा-आन्दोलन आरम्भ होने के बाद से ही। यह बात, हमें आशा है कि चरखे के विरोधी भी मान लेंगे। हम उम्मीद करते हैं कि वे इसे कबूल करेंगे कि चरखा-आन्दोलन ने ही उन्हें इस प्रश्न पर विचार करनेको प्रवृत्त किया। एक बार वे इस बात को मान तो लें और तब हम बहुत नम्रता से उन्हें कहेंगे कि फोर्ड मोटरकार के ऐसा चरखा भी कोई नया अविष्कार नहीं है। यह तो वैसा ही जैसे भूला-भटका लड़का बहुत दिनों पर अपनी माँ का पता लगावे। आलोचक को यहां यह न भूलना चाहिए कि मनुष्यों का एक बड़ा विशाल समूह जो संसार-भर में सब से अधिक अपरिवर्तनशील है, और जो हजार कोस लम्बे और पौन हजार कोस चौड़े महादेश में बसा हुआ है, लड़का माना जाता है और वह कारीगरी जिससे उस की परवरिश होती थी उस की माँ मानी जाती है।

एक बार यह बात समझ लेने पर फिर कोई गम्भीरता के साथ किसी दूसरे धन्धे के दावे पेश नहीं करेगा। धन्धे बहुत हैं और गली-गली मारे फिरते हैं। पशु-पालन की क्यों न आजमाइश की जाय? मगर हिन्दुस्तान तो डेनमार्क है नहीं, जिसके हाथों इंग्लैंड के मक्खन का क़रीब-क़रीब आधा व्यापार है। सन् १९०० में डेनमार्क को इंग्लैंड से १२ करोड़ रुपये मक्खन के लिए और ४½ करोड़ सूअर के गोश्त के लिए मिले थे। गो-पालन के साथ सूअर का पालन आवश्यक है, मगर हिन्दुस्तान को तो एक और

बड़ा हिन्दुस्तान अपना मक्खन बेचने के लिए मिल नहीं सकता। और फिर हिन्दुस्तान के हिन्दुओं और मुसलमानों को सूअर की तिजारत को कहेगा भी कौन ? तीतर और मधु-मक्खी पालने के धन्धे बड़े अनोखे हैं; पर उन में कितनी कठिनाइयां भी हैं। उन्हें अगर इस अनोखेपन के कारण न छोड़ें तो भी इस कारण छोड़ ही देना पड़ेगा कि शहद की बिक्री के लिए नया देश कहां मिलेगा ? हिन्दुस्तान आज अपनी कृषि को भी उन्नत नहीं कर सकता और फी किसान एक एकड़ की औसत खेती को भी नहीं बढ़ा सकता, क्योंकि यह तो आयरलैंड जैसा स्वतन्त्र-देश है नहीं। उसका कृषि-विभाग आश्चर्यजनक रूप से उन्नत है। वह कृषि-विद्यालय खोलता है और, सभी जिला-बोर्डों को उसके जरिये कृषि के विशेषज्ञ विद्वानों की सलाह मिलती रहती है। यह भी कोई भाई न सुझावेंगे कि यह विशाल जन-समूह मौजे या टोकरियां या बेंत की चीजें बुनने का काम कर सकता है। इन की न तो हमेशा स्थायी-रूप से बिक्री ही हो सकती है और न मांग ही पैदा की जा सकती है। लेकिन सूत के साथ यह बात नहीं है। अब भी बंगाल और मद्रास के कुछ हिस्सों में सूतहाट की चाल चली आती है। अज्ञात विनोद के साथ बंगाल के एक सिविलियन सुझाते हैं कि बंगाल के जूट पैदा करने वाले क्षेत्रों में एक जूट-मिल क्यों न खोली जाय ? शायद उन्हें इस पर आश्चर्य हो रहा है कि उनके दूसरे सिविलियन भाइयों ने कपड़े की और अधिक मिलें खोलनी क्यों न सुझाई है ? वे भूल जाते हैं कि जूट-मिलें ढाई लाख से अधिक मजदूरों को काम नहीं देतीं और जूट पैदा करनेवाले किसानों को गरीब बनाकर थोड़े से पूँजी-पतियों

और बिचबिचवानों का ही घर भरती है। ७० लाख से इस देश में कपड़े की मिलें चल रही हैं और अब इनमें ५० करोड़ रुपया लगा देने के बाद हमारे मिल-मालिक आज अपने तीन लाख ७० हजार मजदूरों के परिवार के १५ लाख आदमियों और मुट्ठी भर क्लर्कों और अफसरों को अन्न-वस्त्र देने का दावा करते हैं, (देखो टैरिफ बोर्ड के सामने बम्बई के मिल-मालिकों का बयान।) मगर यह उज्र पेश किया जाता है कि चरखे से बहुत थोड़ी आय होती है और इसलिए सूत कातने में समय लगाना, समय की बरबादी है। यहां यह भुला दिया जाता है कि मुख्य धंधे के रूप में चरखे की कभी भी सिफारिश नहीं की गई है। यह तो उन लोगों के लिए है जो अगर कातें नही तो अपना समय आलस्य में बितावेंगे। दो आने रोज या एक ही आना रोज यानी २४) रुपया साल की आमदनी बहुत कम है या नहीं, इसका विचार तो वे लोग कर सकते हैं जिन्होंने अपनी आंखों से जन-समूह की खून सुखानेवाली गरीबी को देखा है। हिन्दुस्तानियों की औसत आमदनी का विचार करने का यह स्थान नहीं है। भारतीय आर्थिक जाँच-समिति ने कम से कम १५ विशेषज्ञों के समय समय पर किये गये अनुमानों का उदाहरण दिया है। पहले-पहल तभी से जब से दादा भाई नौरोजी ने इस माया-मृग की खोज प्रारम्भ की, कितनों ने इसके पीछे सिर खपाया है। मगर अभी तक यह नहीं माना जाता है कि कोई भी अबतक सही अनुमान कर सका। मगर अगर हम उस अनुमान को भी सही मान लें जो दर-असल हकीकत से बहुत दूर जा पड़ता हुआ मालूम होता है, यानी मि० फिन्डले शिरास का फी आदमी ११६) रुपया

सालाना आमदनी का अनुमान, तोभी यह सोचने की बात है कि ११६) में २४) की बढ़ती क्या थोड़ी समझी जायगी ?

हाथ-कताई में निम्न लिखित विशेषतायें हैं जो हिन्दुस्तान की मौजूदा आर्थिक दुर्दशा को दूर करने में उसे मुख्य पद देती हैं—

१. इसे तुरत ही व्यावहारिक रूप दिया जा सकता है क्योंकि—

(क) इसे शुरू करने के लिए पूँजी या कीमती औजारों की कुछ भी जरूरत नहीं पड़ती इसके लिए यंत्र और कच्चा माल दोनों ही सस्ते में हर स्थान पर मिल सकते हैं।

(ख) इस के लिए उससे अधिक निपुणता या बुद्धि की जरूरत नहीं है, जितनी कि दुख की मारी, अजान हिन्दुस्तानी जनता को है।

(ग) इसके लिए इतनी कम शारीरिक मेहनत की जरूरत पड़ती है कि छोटे लड़के और बूढ़े भी सूत कात कर परिवार की आमदनी बढ़ा सकते हैं।

(घ) इसके लिए फिर नये सिरे से क्षेत्र तैयार करने की जरूरत नहीं है, क्योंकि अभी लोगों में हाथ-कताई की प्रथा जीवित है।

२. यह सार्वत्रिक और स्थायी है, क्योंकि खाद्य पदार्थों के सिवा सूत ही एक वस्तु है, जिस की मांग अपरिमित और हमेशा रह सकती है और कातने वाले के दरवाजे पर ही यह बात की बात में बराबर बिक सकता है जिससे गरीब किसान को रोज बिला नागा ४ पैसे की आमदनी हो सकती है।

३. इस पर बरसात की कमी-बेशी का कोई प्रभाव नहीं पड़ता;

इसलिए अकाल के दिनों में भी यह जारी रखा जा सकता है।

४. लोगों की धार्मिक या सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध यह नहीं है।

५. जैसा कि हम दूसरे अध्याय में देखेंगे, अकाल से जूझने का यह सब से सहज और अच्छा तरीका है।

६. आर्थिक कठिनाई में परिवार के एक-एक आदमी को दूर-दूर पर अलग-अलग जाकर मजदूरी करनी पड़ती है जिससे कुटुम्ब की एकता में बाधा पहुँचती है; लेकिन चरखा तो घर बैठे ही सबको रोजगार और रोजी दोनों देता है।

७. हिन्दुस्तान के नष्ट-प्राय पंचायतों के पुनः-संगठन की कुछ आशा केवल एक इसी से की जा सकती है।

८. यह किसान का जितना बड़ा सहायक है, जुलाहे का भी उतना बड़ा सहारा है; क्योंकि केवल एक इसी से हाथ बुनाई को स्थायित्व और स्थायी आधार मिल सकता है, आज हाथ-बुनाई के धंधे से पौन करोड़ से कोई एक करोड़ आदमियों की गुजर होती है और हिन्दुस्तान के कपड़ों का एक तिहाई अंश पैदा होता है।

९. इसके पुनरुद्धार से कितने ही दूसरे सहायक और समान धंधे उठेंगे और इस प्रकार गांवों का, जो आज नष्ट-प्राय हो रहे हैं, उससे उद्धार होगा।

१०. हिन्दुस्तान के करोड़ों बाशिन्दों में, केवल एक इसी के जरिये धन का समान बँटवारा सम्भव है।

११. बेकारी की समस्या का हल वह भी किसानों की आधी बेकारी नहीं, बल्कि शिक्षित युवकों की, जो आज काम को फिक्र

में यों ही मारे मारे फिरते हैं, बेकारी का हल केवल एक इसी वस्तु से हो सकता है। यह काम ही इतना विशाल है कि इसके संगठन और संचालन के लिए देश के सारी बुद्धि के संयोजन की जरूरत है।

अबतक यह क्या कर पाया है और इससे क्या उम्मीदें रखी जा सकती हैं, इनका विचार किसी दूसरे ही अध्याय में करना होगा।

कितना काम हो गया ?

इस विभाग में हम इस बात पर विचार करेंगे कि चरखे के सम्बन्ध में पहले विभाग में जो दावे किये गये हैं वह कहां तक सच ठहरे। इस बात के विचार में तो चरखा-आन्दोलन के आरम्भ से अर्थात् सन् १९२० से उसका इतिहास देना चाहिए। परन्तु हम इस बात की कोशिश नहीं करेंगे। इस सम्बन्ध में जो विशेष बातें विचारणीय हैं वह तीन हैं—

१—संगठन,

२—काम,

३—व्यक्तिगत मामलों में और दुर्भिक्षवाले देशों में चरखे ने क्या किया है ?

सङ्गठन—आरम्भ में इधर-उधर बेढंगी कोशिशें होती रही हैं, लेकिन अब तो नियमित संगठन हैं, हर प्रान्त में शाखायें खुली हुई हैं, और कोई १५ लाख के लग-भग पूंजी लगी हुई है, माल इकट्ठा किया जाता है, ऋण दिये जाते हैं, महीने-महीने विविध प्रान्तों में माल की तैयारी और बिक्री की रिपोर्टें छपती रहती है, बहुत काम के सभी आंकड़े इकट्ठे किये जाते हैं, और प्रकाशित किये जाते हैं। चरखा, तकली और ओटनी में सुधार के लिए बराबर जांच होती रहती है और उनका प्रचार होता रहता है। स्वेच्छा कातने वालों से सूत की तहसील होती रहती है, सूत की अच्छाई की ठीक-ठीक जांच होती रहती है। और

सूत और कपड़ा दोनों में बराबर सुधार करते रहने के लिए माल पैदा करनेवाले विविध केन्द्रों को भरसक आदेश दिया जाता है, कपास ओटने से लेकर बुनने और रंगने और बाजार के लिए तैयार करने के अन्तिम काम तक की सारी कलाओं की शिक्षा बराबर दी जाती है और खादी-सेवा-मंडल में काम करनेवालों का एक संगठन भी किया जाता है ।

२—काम अखिल भारतीय चरखा-संघ के ठोस काम को हम कई मदों में रख सकते हैं ।

(१) माल की तैयारी और बिक्री एवं फेरी और प्रदर्शिनी के द्वारा सफलता-पूर्वक माल को बाजार में पहुँचाना । (२) कपड़ा और सूत की चोखाई में सुधार । (३) लागत और दाम में कमी ।

माल की तैयारी के आंकड़े वही हैं जो बोर्ड की देख-भाल में तैयार हुए हैं । इन आंकड़ों में वह माल शामिल नहीं हैं जो आसाम, राजपुताना, पंजाब और आन्ध्र देश के कई भागों में परम्परा से बराबर तैयार होता आया है और चरखा-संघ से स्वतन्त्र है ।

सन् १९२३-२४ में कुल, ९ लाख, ४९ हजार, ३४८ रुपयों का माल तैयार हुआ । परन्तु दूसरे ही साल अर्थात् १९२४-२५ में कुल १९ लाख, ३ हजार, ३४ रुपये का माल अर्थात् दूने से ज्यादा का तैयार हुआ । बिक्री के आंकड़े देने की बिलकुल जरूरत नहीं है, क्योंकि बिक्री के आंकड़े भी वही हैं । कारण यह है कि जितना खद्दर तैयार होता है एक-एक गज बिक जाता है । १८ लाख, ३ हजार, ३४ रुपये का मतलब यह है कि ३८

लाख, ६ हजार, ६८ गज खद्दर तैयार हुआ है; क्योंकि खद्दर की औसत दर ॥) आठ आना गज है। इसका मतलब यह है कि लगभग १५ लाख, ३२ हजार ४७७ पौंण्ड या १९ हजार, ३० मन से कुछ अधिक सूत खर्च हुआ। अगर मान लें कि एक बुनकार औसत ५ गज रोज़ बुनता है,—या समझ कर कि शुरू-शुरू में हाथ का कता सूत कुछ समय तक घटिया ठहरेगा—और यह भी मान लें कि वह साल में ३०० दिन से ज्यादा काम नहीं करता तो ३८ लाख, ६ हजार, ६८ गज खद्दर के तैयार करने में लग-भग २ हजार, ५३७ बुनकारों के परिवार का काम लगा। अब यह मान लें कि साल में एक कातनेवाला २५ पौण्ड के औसत से कातता है, जिसमें वह ३ घंटे रोज कातता और घंटे भर रोज ओटता और धुनता है तो इतने सूत के तैयार होने में लग-भग, ६० हजार, ८९७ कातनेवाले लगते हैं। इस में तो शक नहीं कि उन करोड़ों बेकारों के मुकाबले जिनके लिए काम की तलाश है, यह तो कुछ नहीं है लेकिन यह याद रखना चाहिए कि यह केवल ५ वर्ष की कोशिशों का फल है या यों कहिए कि डँट कर दो वर्ष काम करने का नतीजा है।

यह तो आंकड़े हुए सन् १९२४-२५ के। यह जो साल चल रहा है पिछले साल से कहीं अच्छी तरक्की दिखा रहा है। तीन विशेष केन्द्रों के काम के आंकड़ों का मुकाबला करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

तामिल-नाड, मद्रास

(अक्टूबर से फरवरी तक)

	१९२३-२४	१९२४-२५	१९२५-२६
	रु०	रु०	रु०
माल की तैयारी	१,८४,०००	१,९६,०००	४,१०,०००
बिक्री	१,४१,०००	२,१५,०००	३,४०,०००

खादी-प्रतिष्ठान

	६ माह जुलाई से दिसम्बर २४	४ माह जनवरी से अप्रैल २५	६ माह जुलाई से दिसम्बर २५	४ माह जनवरी से अप्रैल २६
माल की तैयारी	३०,०००	३०,०००	१,८०,०००	९०,०००
बिक्री	१०,०००	४०,०००	३०,०००	९०,०००

अभय-आश्रम, कुमिल्ला

	१९२४	१९२५
माल की तैयारी	२१,०१३	८०,०००
बिक्री	२१,८२२	७४,६२०

पंजाब

	१९२४-२५	१९२५-२६
माल की तैयारी	२३,६३४	५१,४३७
बिक्री	२९,५५१	४५,०६०

बीते दो-तीन मास से ज़ो हर दूसरे सप्ताह में 'यंगइंडिया' में खादी के विस्तृत आंकड़े छपा करते हैं वह साफ-साफ बताते हैं कि चरखा क्या-क्या काम कर रहा है ? बड़े-बड़े केन्द्रों को ही लीजिए। बंगाल का खादी-प्रतिष्ठान १० हज़ार कातनेवालों और साढ़े सात सौ बुनकारों को बराबर नियम से काम देता है, और इस तरह पचासों गाँवों की सेवा करता है। दक्षिण में तिरुचेंगोड

गोडू के आश्रम से २ हजार २४१ कातनेवाले और लगभग १५० बुननेवाले काम पाते हैं। इस तरह ११५ गांवों की सेवा होती है। काठियावाड़ की खादी से २ हजार, ३१३ कातनेवाले और १२० बुननेवालों को काम मिलता है, इस प्रकार १२१ गाँवों की सेवा होती है। कुमिल्ला के अभय-आश्रम से १० हजार कातनेवालों, १५० बुनकारों और लगभग २० ग्राम-मंडलों की सेवा होती है। बिहार और आन्ध्र-देश के आंकड़े अभी नहीं मिले हैं लेकिन कातनेवालों का अन्दाजा इस तरह किया जा सकता है कि चरखा-संघ की बिहार की शाखा और मलखा-चक कुटीर कातनेवालों को ६० हजार रुपये के लगभग बाँटते हैं और आंध्र-देश के गुन्टूर जिले के केवल अंगोल के ताल्लुके में सन् १९२५ में लगभग ९ हजार ९०० के कातने वाले थे। जो औसत दो आना रोज़ अपने बचे समय में काम करके पैदा करते थे।

(२) कपड़े और सूत की चोखाई में सुधार और (३) लागत और दाम की कमी इन दोनों का विचार एक साथ ही हो सकता है।

जहाँ कि पाँच वर्ष पहले आन्ध्र ही में नहीं, बल्कि बंगाल और बिहार में भी ऊँचे अंकों का सूत बहुत कम देखने में आता था वहाँ अब यह हाल है कि तीनों जगह बारीक सूत भी कतता है। साधारण सूत की चोखाई दिन पर दिन ऊँचे दर्जे की होती जाती है। गुजरात को छोड़ हर जगह सूत का नम्बर अब १५–२० तक पहुँच गया है। पूर्ण निर्दोष और उत्तम प्रकार का सूत हम कातने लग गये हों सो बात तो नहीं है, लेकिन खराब सूत के दिन तो अब बीते ही समझे जाने चाहिए। साबरमती के सत्याग्रह आश्रम में सूत के सुधार के दस सप्ताहों की कड़ी

कोशिश से सूत का बड़े वेग से सुधार होना इस बात को प्रकट करता है। पहले सप्ताह में १०० में ३६ कातनेवाले ही ५० प्रति शत से ऊपर की जाँच का सूत कात सके। और उन पास होनेवालों में भी केवल ३ कातनेवाले सत्तर प्रतिशत से ऊपर कात सके। चौथे सप्ताह में १०० में ६४ कातनेवाले ५० प्रति शत से बढ़े, जिनमें से २३ तो ६० प्रतिशत से ऊपर थे, दो कातने वाले ७० प्रतिशत से ऊपर थे और एक ८० प्रतिशत के ऊपर का निकला। नव सप्ताह में १११ में १०४ कातनेवाले ५० के ऊपर के, ३० साठ से ऊपर के, २९ सत्तर के ऊपर के, १७ अस्सी के ऊपर के, ४ नब्बे के ऊपर के और २ कातनेवाले सौ के ऊपर के थे। यह भी ध्यान में रखने के लायक बात है कि उसीके मुकाबले अहमदाबाद केलिको मिल्स के २० अंक का सूत ९० प्रतिशत की जाँच का था, अहमदाबाद शाहपुर मिल्स का ८५ प्रतिशत की जाँच का था, और कमरशियल मिल का ६९ प्रतिशत जाँच का था।

यह अकेला उदाहरण नहीं है। सभी खद्दर-भण्डार अब सूतों की जाँच करके लेते हैं और प्रायः इन सबने निश्चय कर लिया है कि एक विशेष परिमाण से घटिया सूत नहीं लेंगे।

अब दामों की बात लीजिए। जिस तरह बड़े पैमाने पर माल की तैयारी में कामों का विभाग और केन्द्रीकरण एक नियम है उसी तरह हाथ की कताई के सम्पत्ति-विज्ञान के लिए कामों का एकत्रीकरण और कारखानों का जगह-जगह में अच्छी तरह बँटना विशेष नियम है। जैसे गुजरात में जहाँ ओटाई, धुनाई, कताई भिन्न-भिन्न लोग करते हैं वहाँ एक पौण्ड सूत के तैयार

करने का लागत खर्च नौ आना साढ़े चार पाई पड़ता था, परन्तु तिरुपुर में जहाँ कातनेवाला अपने लिए रुई धुन लेता है सूत का लागत खर्च छः आना साढ़े दस पाई पड़ा और बंगाल के कुछ भागों में जहाँ कातनेवाले आप ओटते और धुनते हैं, लागत खर्च केवल साढ़े पाँच आना पौण्ड पड़ा।

इस दिशा में कोशिशों का फल यह हुआ है कि शायद गुजरात को छोड़कर सभी प्रान्तों में लागत खर्च बहुत ज्यादा घट गया है। तामिलनाड में, आन्ध्र-देश में और पंजाब में जो लागतें और जो कीमतें सन् १९२० में थीं, आज आधी हो गई हैं और जो सन् १९२२ में थीं, उनके मुकाबले सैकड़ा पीछे पच्चीस की कमी आई है। बंगाल में खादी-प्रतिष्ठान की कीमतें तब भी बहुत ऊँची हैं। यद्यपि तीन वर्ष पहले की कीमतों से कम हैं, किन्तु कुमिल्ला के अभय-आश्रम की कीमतों के घटाने में बड़ी सफलता मिली है। ८×४४ की धोतियों का एक जोड़ा सन् १९२१ में साढ़े सात रुपये में तैयार होता था, सन् १९२२ में छः रुपये में पड़ने लगा। सन् १९२५ में पाँच रुपये और सन् १९२६ की जनवरी में लागत पौने चार रुपये हो गये। लागत-खर्च की घटती अब इस दर्जे को पहुँची है कि आश्रम अब बंग-लक्ष्मी-काटन मिल्स के मुकाबले कम कीमत पर धोतियाँ बेचनेवाला है। इस सम्बन्ध में यह भी ख्याल रखना चाहिए कि जो लागत-खर्च की घटी सैकड़ा पीछे पचास आंकी जाती है वह वस्तुतः सौ में सौ है क्योंकि पाँच वर्ष पहले जिस चोखाई का खद्दर मिलता था अब उसकी दूनी चोखाई का मिलने लगा है। हाँ, इस बात को हम मानते हैं कि लागत खर्च में जो भारी घटी आई है बीते को

वर्षों में रुई के भाव के घट जाने से भी थोड़ी-बहुत हुई है।

एक बात और भी ध्यान में रखने लायक है। हाथ की कताई में किफायत का सबसे आखिरी दर्जा तब होगा, जब कातनेवाला केवल कताई के पहले के कुल काम ही नहीं कर लेगा, बल्कि अपने काम के लिए कपास भी जमा रखा करेगा। पिछले साल काठियावाड़ में ऐसा ही किया गया, और उससे अत्यन्त लाभ हुआ। एक तो उन्हें अच्छी रुई मिल गई, दूसरे वह बहुत से छीजन से बच गये, तीसरे वह अच्छे प्रकार का सूत भी कातने लगे। वर्तमान दशा तो यह है कि कपास की सारी खेती मिल-मालिकों के 'एजंटों' या दलालों की मुट्ठी में है। वह लोग फसल का हीर तो उठा ले जाते हैं और बुरी तरह की कपास छोड़ जाते हैं। बेचारे हाथ के कातनेवालों को प्रायः यही रुई मिलती है। खोटे सूत के कतने का कुछ अंश में यह भी कारण है। कातनेवाला किसान जब अपने मतलब की बात अच्छी तरह समझने लगेगा—और उसे जल्दी समझना ही चाहिए—तो वह अपने आप अपनी कपास बटोर रक्खेगा और मजूरी के लिए नहीं, बल्कि अपने काम के लिए ही काता करेगा।

(३) चरखे ने अलग-अलग मामलों में और दुर्भिक्ष-पीड़ित देशों में क्या-क्या किया है ?

(१) **अलग-अलग मामले**-जब हम शुद्ध अर्थ-शास्त्रीय दृष्टि से चरखे पर विचार करते हैं, तो उस नैतिक क्रान्ति का, वर्णन नहीं कर सकते जो अनेक व्यक्तियों के विषय में चरखे के द्वारा हुई है। परन्तु शराबखोरी में कमी और ऋण से मुक्ति जो चरखे के पीछे-पीछे आती है, वह केवल नैतिक फल नहीं है।

आर्थिक भी है; यह बात हर जगह पाई जाती है। परन्तु गुजरात के कुछ हिस्सों में तो इसका सत्-परिणाम बड़े पैमाने पर दिखाई पड़ता है।

सन् १९२६ के अगस्त के महीने में 'यंग इंडिया' में "एक सफल-परीक्षा" के नाम से एक लेख निकला है। उसमें यह दिखाया गया है कि सूरत जिले में काली-परज क्षेत्रों में चरखे का कैसा सुधारक प्रभाव पड़ा है। उसमें लिखा है कि २६ किसान-परिवार, जिनके पास ९ से लेकर ३४ एकड़ों तक की जोत थी और जो अपना अधिक समय खेती के काम में लगाते थे, उन्हें इतना समय मिल गया कि साल भर में उन्होंने २० पौण्ड से लेकर ६० पौण्ड तक सूत काता। एक तरह से यह चरखे की भीतरी ताक़तों को बताने वाली बात है।

(२) दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रदेशों में-यह बात संक्षेप में बताना मुश्किल है कि दुर्भिक्ष-पीड़ित प्रदेशों में किस प्रकार सहायता के कामों में चरखा लगाया गया। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि जब चरखे चलते थे तब भी तो दुर्भिक्ष पड़ते थे। निःसन्देह यह ठीक है, लेकिन सन् १८६४ ई० से अब तक जितनी जल्दी-जल्दी काल पड़ा, उतनी जल्दी-जल्दी पहले कहां पड़ते थे? सन् १७७७ ई० का दुर्भिक्ष तो काल नहीं बल्कि दैवी कोप था, परन्तु अनेक वर्षों तक दुर्भिक्ष नहीं पड़ा, तब से आज तक कमीशन पर कमीशन बैठे और उन में हर-एक ने विशेष रूप से यही रोना रोया है और इसी बात पर ज़ोर दिया है कि सरकार के लिए काल पड़ने पर मदद देना बहुत कठिन है।

जिन लोगों को दुर्भिक्ष की बान नहीं पड़ी है, वे सहायता लेने से हिचकते हैं और जिन्हें आये दिन दुर्भिक्ष सताता रहता

है वे सहायता पाने के लिए उत्सुक रहते हैं। जब परिवार-बन्धन टूट जाते हैं तब अनाचार फैल जाता है और भुक्खड़ जनता भीड़ की भीड़ चलने लगती है। सर एडवर्ड केयर्ड ने कहा है कि गांवों की पद्धति की रक्षा ही एक ऐसा उपाय है जिससे शान्ति रह सकती है और जीवन की रक्षा हो सकती है। ग्राम-पद्धति की रक्षा और किसी विधि से इतनी अच्छी तरह नहीं हो सकती जितनी अच्छी तरह कि चरखे से हो सकती है, जो कि अकाल-पीड़ित के द्वार पर सहारा पहुँचाने का एक-मात्र उपाय है। यही एक काम है जो कि बूढ़े, जवान, दुबले और अपाहिज सभी दिन रात बिना विशेष थकान के कर सकते हैं।

सन् १९२३-२४ में पश्चिमी बंगाल में अकाल और बाढ़ से पीड़ित प्रदेशों में डाक्टर राय ने पहले धान की कटाई आदि सहायता के कामों की परीक्षा की, और उन्हें बेकाम पाया। चरखे की जाँच की और वह अन्त तक खरा निकला। तलोरा, चम्पापुर, दुर्गापुर और तिलकपुर के चार केन्द्रों में ओटाई, कताई और बुनाई की मजूरी कुल ३८ हज़ार रुपये दिये गये। पर यह तो कुछ भी नहीं है। बड़ी भारी सफलता यह हुई कि उन प्रदेशों में चरखे ने सदा के लिए अपना घर कर लिया। और उसके बल पर अब वहां के लोग अपनी थोड़ी-सी आय में सहारा पा जाते हैं और जब फसल नहीं होती या बाढ़ें आती हैं, तब पहले की अपेक्षा उनका मुकाबिला ज्यादा और अच्छी तरह कर सकते हैं।

परन्तु इस आन्दोलन की ताक़तों पर चर्चा छेड़ने के पहले हम संक्षेप से उस विषय पर लिखेंगे जो इसकी उन्नति में बहुत भारी बाधा समझी जाती है।

मिल के कपड़े क्या बाधक हैं ?

अभीतक हमने केवल उसी काम का विचार किया है जो अबतक हो चुका है। उसी काम से इसकी भविष्यत् शक्यता का पता चल जाता है। मगर यह भी कहा जाता है कि मिलों की प्रतियोगिता का हमने विचार नहीं किया है। यह कहना क्या समुचित होगा कि मिल के बने और घर के बने कपड़े में भी कोई प्रतियोगिता है ? दो मिलों के बीच प्रतियोगिता चल सकती है, जैसे देशी या विदेशी मिलों या भाफ के बल से चलनेवाली और बिजली से चलनेवाली मिलों के बीच प्रतियोगिता सम्भव है, किन्तु उन दो चीजों में भला कैसे प्रतियोगिता हो सकती है या होनी ही क्यों चाहिए, जिनमें एक तो जीवनदायी उद्योग है, और दूसरा दूसरी ही चीज ? हमें जरा और अधिक खुलासा करना चाहिए। आज की सब से बड़ी समस्या है हमारे करोड़ों किसानों की आर्थिक दुरवस्था का सुधार—यानी उनकी आधी बेकारी का दूर होना। यही हमारी सब से बड़ी जरूरत है। हम लोग पिछले अध्यायों में देख चुके हैं कि चरखा ही वैसा एकमात्र धन्धा है, जिससे उनकी दुर्दशा दूर हो सकेगी और उन्हें रोजी मिल सकेगी। हम यह भी देख चुके हैं कि मिलों के रोजगार में ९० करोड़ रुपया लगा देने के बाद भी मिलमालिक अबतक

---

* तारीख १८ नवम्बर के 'हिन्दी-नवजीवन' से उद्धृत।

केवल १५ लाख आदमियों, यानी पौने चार लाख मजदूरों, के कुटुम्बियों को अन्न-वस्त्र देने के काबिल हुए हैं। ये मजदूर अधिकांश में खेतों पर से ही खिंचकर आते हैं। अब अगर यह मान भी लिया जाय कि हिन्दुस्तान की जरूरत मुआफिक पूरा कपड़ा तैयार करने योग्य मिलों के रोजगार की उन्नति हो गई तो उस समय भी क्या भूखों मरनेवाले करोड़ों के जन-संघ की हालत जिन्हें एक सहायक धन्धे की जरूरत है, कुछ भी सुधरेगी ? हमारे यहाँ आज ४६,६१० लाख गज (१७,८९० गज देशी मिलों का, १७,६९० लाख गज विलायती और ११०,३० लाख गज हाथकते) कपड़े की खपत है। अब ४६,६१० लाख गज कपड़े के लिए करीब १०,६५० पौण्ड या रतल (एक रतल= ४० तोले) सूत चाहिए। अब सन् १९२२-२३ में हिन्दुस्तान की २३९ मिलों ने साढ़े ७२ लाख तकुए चलाकर ७,०५० लाख रतल सूत कांता। इसके लिए उन्हें साढ़े तीन लाख मजदूर लगाने पड़े। अब ११,६५० लाख रतल सूत के लिए उन्हें एक करोड़ १० लाख तकुए चाहिएँ। इतने सूत का कपड़ा बुनने के लिए २,१५,६५५ करघे चाहिएँ। अब इन १ करोड़, १० लाख तकुओं और २,१५,६६६ करघों को चलाने के लिए मोटे हिसाब से ६ लाख आदमी चाहिएँ। इस प्रकार हमारा मिल-व्यवसाय ६ लाख मजदूरों के कुटुम्बियों को मिला कर, अधिक से अधिक २५ लाख आदमियों को रोटी दे सकता है। और फिर इन आदमियों से प्रायः देश को कुछ नफा भी नहीं होता। इसलिए मिल-व्यवसाय अधिक से अधिक यही कर सकता है कि इन लोगों को खेतों से छुड़ा मँगावे। एक आदमी को भी सहायक-धन्धा

देना उसकी शक्ति के बाहर है। इस प्रकार चरखा और मिलों में कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इनका मिलान किया ही नहीं जा सकता।

अब हम देखें कि हमारी घरू मिल, यानी चरखा, क्या कर सकता है। उतना ही कपड़ा तैयार करने के लिए, उसी हिसाब से उतना ही, यानी ११,६५० लाख पौण्ड, सूत चाहिए। अब एक आदमी अगर साल में २५ पौण्ड सूत काते, तो कम से कम ४ करोड़ ६६ लाख आदमियों को चरखा चलाना होगा। यानी कम से कम इन ४ करोड़, ६६ लाख कातनेवालों की आमदनी में तो इससे बढ़ती हो सकेगी। अब इनमें धुनियों, ओटनेवालों, रंगरेजों, बढइयों, लोहारों, पढ़े-लिखे संगठन-कर्ताओं और कम से कम ३१ लाख जुलाहों को जोड लें तो फिर हिन्दुस्तान के किसानों की आबादी में से १० साल से कम उम्र के ६ करोड़ बच्चों की संख्या घटा लेने पर उनकी सारी आबादी की आधी संख्या के बराबर यह संख्या हो जाती है।

इस के अलावा, मिलों में जहां ४०-५० करोड की पूंजी और लगानी पडेगी, इस के लिए कुछ भी नहीं, यानी बहुत थोड़ी चाहिए। जहां कपास नहीं पैदा होती वहां उसे खरीद कर जमा कर रखने और संगठन-कार्य में लगे हुए लोगों के वेतन के लिए थोड़ी पूंजी चाहिए। कारण इस का स्पष्ट है। देश में अभी लाखों चरखे बेकार पड़े हुए हैं, जिन्हें केवल झाड़-पोंछ लेने भर की जरूरत है। सन् १९२१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में करघों की पूरी संख्या नहीं दी गई है। मगर तब भी, बंबई, मध्यप्रान्त, मैसोर, और संयुक्त-

प्रान्त के करघों की संख्या छोड़कर, और प्रान्तों में १९,३९,०६६ गिनाये गये हैं। इसलिए जितने करघों की हमें जरूरत है, यानी कम से कम ३१ लाख करघों से अधिक करघे हमारे पास अगर न हो सकें, तो न हों, मगर सारे हिन्दुस्तान में कम से कम ३१ लाख तो जरूर ही होंगे।

हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि जहांतक खादी के व्यवहार करनेवालों से मतलब है, उनकी सहानुभूति या समर्थन इस जीवन देनेवाले व्यवसाय के लिए प्राप्त की जा सकी है तथा उनकी बढ़ती हुई मांग पूरी की जा सकी है और साथ ही साथ कपड़े के सस्तेपन और अच्छाई में भी उन्नति हो सकी है। यह व्यवसाय हमारे लिए जीवन देनेवाला है; क्योंकि इसके अर्थशास्त्र का अधार है-मनुष्यों का जीवन। एक लेखक का कहना है कि जातियों के लिए ऐसा अर्थशास्त्र चाहिए जो उन्हें जिन्दा रक्खे। यहां चरखा हमें एक ऐसा व्यवसाय मिलता है, जो राष्ट्र को जिन्दा रक्खेगा और केवल जिन्दा ही नहीं, बल्कि एक राष्ट्र के समान जिन्दा रक्खेगा जो सच्ची सम्पत्ति पैदा कर उसे समान-रूप से बाँटता हो, और वह भी झूठी सम्पत्ति नहीं है, उस पैसे के समान नहीं है जो दो कौड़ी के लालच से शत्रुओं को घर बुला तमाशा दिखा कर उनसे तमाशे के इनाम में मिला हो, यानी नाश का जो सूत्रपात करता हो।

क्या, राज्य से या सरकार से ऐसी उम्मीद करना कि वह उस प्राणरक्षक व्यवसाय का समर्थन करेगी, अनुचित है? सरकार के लिए, ऐसी संस्था की सहायता करना, जिस पर राष्ट्र का जीवन निर्भर हो, जैसे डाक-विभाग, उचित से क्या कुछ अधिक

कहा जायगा ? कुछ देशों में म्युनिसिपैलिटी के बाजार-हकों की रक्षा करने की चाल है। फिर केवल खादी की ही बिक्री के लिए सहायता देकर यह सरकार, अपने पहले जमाने के अफसरों के, जिन्होंने देश के इस एकमात्र प्राणरक्षक व्यवसाय का गला घोंटा था, पाप का प्रायश्चित्त भर कर सकेगी।

मगर हम मान लें कि सरकार खादी के प्रति अपनी उदासीन वृत्ति ही रक्खे रहेगी, और इस घरू-धंधे को नाममात्र के स्वतंत्र व्यापार का ही सामना करना पड़े और गाहक को खादी और मिल के कपड़े में से एक चुन लेना पड़े, तो उस दशा में मिल के कपड़े से खादी को कहांतक बाजी लेनी पड़ेगी ? अब हम देखें कि १ पौण्ड कपड़ा तैयार करने में मिल को कितना और घर पर तैयार करनेवाले को कितना खर्च पडेगा। (मिल का हिसाब १९२४-२५ का और हाथ-बुनाई का १९२२-२३ का है।)

१ पौण्ड मिल के कपडे का लागत-खर्च	पाई	१ पौण्ड खादी का लागत-खर्च	आ०पा०
कोयला	१०.०९	धुनाई	१—०
गोदाम	१४.४६	कताई	३—०
मजदूरी	३९.६९	बुनाई	७—६
दफ्तर और जाँच	३.४१	माल की खराबी	०—६
बीमा	१.६७		
म्युनिसिपल और दूसरे कर	१.५७	बारह आने	१२—०
सूद	५.६६		

कपड़े पर कमीशन ४.६०
एजन्ट का कमीशन ०.८३
इनकम टैक्स वगैरह १.९४

८३.९२

सात आने ०—७—०
अन्तर ५ आने
फी गज अन्तर २ आने

ऊपर के हिसाब से हम देखते हैं कि अगर्चे हम ईंधन, गोदाम, कमीशन, बीमा, टैक्स वगैरह के रूप में चार आनेतक बचा लेते हैं, किन्तु मजदूरी में छः आने की घटी सहते हैं। इस प्रकार ग्राहक को जो केवल ग्राहक ही है, यानी जो खुद कातता बुनता नहीं है किन्तु खरीद कर ही खादी पहनता है, फी गज दो आने की घटी लगती है। मगर जब कभी वह खुद आप ही धुनना और कातना शुरू करता है तो वह उसे बचा लेता है और फिर खादी का और मिल के कपडे का दाम करीब करीब बराबर ही पड़ता है। खादी के अर्थशास्त्र की एक आखिरी स्थिति तब आती है जब कातनेवाला अपनी कपास न सिर्फ धुन और कात ही लेता है, बल्कि जमा भी कर रखता है, जैसा कि वह पहले जमाने में किया करता था और गत दो वर्षों में कई किसानों ने किया भी था। अगर हम हिन्दुस्तान की आबाद खेती का केवल कपास के खेतों से मिलान करें, तो करीब १ करोड़ किसान कपास में लगे

हुए मालूम होंगे। अब अगर ये अपनी कपास आप ही जमा कर रक्खें, जो हमारा उद्देश्य है तो उन्हें न केवल बुनाई की मजदूरी पर ही कपड़ा मिलेगा बल्कि उससे भी बहुत कम पर। क्योंकि उन्हें कपास एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने, मिलों में पहुँचने पर गांठें बांधने और खोलने के खर्च और दलालों का नफा चुकाना नहीं पडेगा; नहीं, इससे भी सस्ता कहना होगा। किसान के लिए फसल की पूरी कपास चुनने के पहले जब तब, घर के काम के लिए चुनी हुई दो चार सेर कपास का कोई मूल्य नहीं होता और इसलिए उसे बिलकुल बुनाई की मजदूरी पर कपड़ा मिल सकेगा, कई व्यक्तिगत उदाहरणों में हम यही बात पाते हैं।

इनके अलावा, इस व्यवसाय की उन्नति होने से और कई बातें उपस्थित हो जायँगी, जिनका प्रभाव चरखे के अर्थशास्त्र पर पडेगा ही।

(१) मिल के कपड़े का लागत खर्च जरूर ही घटता बढ़ता रहेगा। क्योंकि वह व्यवसाय परमार्थ के लिए तो है नहीं; बल्कि वह तो तिजारत के सिद्धान्त पर है। जैसे उदाहरणार्थ १९२४ साल में १९१४ की बनिस्बत लागत खर्च दुगुना पड़ता था। और कुछ न हो तो भी इसलिए मिल-मालिक गत ३ साल की घटी पूरी करनी चाहेंगे, मिल के कपड़ों का दाम शीघ्र ही और भी बढ़ सकता है। मगर इधर जुलाहे की मजदूरी अगर घटी नहीं, जो कुछ अनहोनी बात नहीं है, तो बढ़ तो सकती नहीं। इसके लिए ताड़पत्री (मद्रास) का उदाहरण ले लीजिए। वहां बुनाई की मजदूरी में इस प्रकार कमी हुई है।

	पहले की मजदूरी	अब की मजदूरी
१६ अंक सूत की बुनाई	०—५—०	०—३—०
१२ ,, ,,	०—३—०	०—२—३
१० ,, ,,	०—२—०	०—१—३

२. दूसरी बात है, कपास में उन्नति। विदेशों में कपास भेजने वाले व्यापारियों के दलाल अच्छे से अच्छा माल तो खेत में से चुन कर विलायत भेज देते हैं और बुरा सामान छोड देते हैं। जब किसान अपनी कपास खुद रखने लगेंगे तो वे अच्छी कपास भी जरूर रक्खेंगे ही।

३, तीसरी बात है सूत के ऊपर कातने वाले का अधिकार यानी कातनेवाला सूत का अंक बढ़ाता जा सकता है और कच्चे माल का खर्च कम करता जा सकता है।

४. हाथ से कातनेवाला या चरखा चलानेवाला साधारण देव-कपास से ही ४० से ५० अंक तक का अच्छा सूत कात सकता है। मगर ऊँचे अंक का सूत कातने के लिए मिलों को विदेशी कपास का आसरा लेना पड़ेगा।

५. हाथ से बुननेवाला जुलाहा हर ताने पर नया ही नकशा बुन सकता है, क्योंकि उसका ताना तो १० से ३० गज का ही होता है। मगर मिलवाले हरवार हुक्म बमूजिम नया ताना नहीं कर सकते। क्योंकि उनका ताना ५०० गज का होता है।

६. हाथ से बुननेवाला तरह-तरह की अँचरी वा किनारी बुन सकता है, मगर मिलों को यह सुविधा नहीं है।

हाथ करघों की बातें करते समय इस शंका का भी समाधान करना पड़ेगा कि—'आप करघों पर भरोसा न करें उनको तो

करना है कि अपने देश के भाई-बहनों के हाथ के सूत का कपड़ा कभी महँगा नहीं कहा जा सकता। जबतक मिलें, सिडनी वेब के शब्दों में, "देश से, उसकी पूंजी खर्च कर यानी मजदूरों का स्वास्थ्य बुद्धि और चरित्र नष्ट कर" सस्ते कपड़े तैयार करती हैं, तबतक देश-भक्त-भाइयों को, अपनी इच्छाओं पर लगाम लगा कर, और खादी के लिए अधिक दाम देकर, देश-प्रेम का कर चुकाते ही रहना होगा।

समाप्त

करघा बनाम चरखा *

यह बात अब साधारणतः मानी हुई-सी मालूम होती है कि चूँकि हिन्दुस्तान की आबादी के सैकड़े ७१ लोगों का बसर खेती पर होता है, और वे लोग साल में कम से कम चार महीने आलस्य में बिताते हैं, इसलिए हिन्दुस्तान को किसी सहायक धन्धे की जरूरत है। और उस धन्धे को अगर सार्वत्रिक होना है, तो वह सिर्फ हाथ-कताई ही हो सकता है। मगर कुछ लोग कहते हैं कि हाथ-बुनाई का धन्धा हाथ-कताई से अच्छा है, क्योंकि उसमें आमदनी अधिक होती है और इसलिए लोग उसे अधिक पसन्द करेंगे भी।

आइए; अब हम इस दलील की जाँच कुछ विस्तार से करें। यह कहा जाता है कि हाथ-बुनाई से आठ आने रोज की आमदनी होती है, मगर चरखा चला कर तो आदमी दो ही आने पैदा कर सकता है। इसलिए अगर कोई सिर्फ दो घण्टे काम करे, तो बुनाई के जरिये उसे दो आने मिलेंगे और चरखा चलाने से केवल एक पैसा। इसके बाद यह कहा जाता है कि १ पैसे की आमदनी कुछ ऐसी बड़ी चीज नहीं है कि कोई उसपर आकृष्ट होवे और अगर लोगों को बुनने को कहा जा सकता तो उस हालत में उसके बदले उन्हें चरखा चलाने को कहना गलत होता। करघे के हिमायती, इसके बाद और भी कहते हैं कि

---

* ११ नवम्बर, सन् १९२६ के 'हिन्दी-नवजीवन,' से उद्धृत।

हिन्दुस्तान की जरूरत के लिए मिल का जितना सूत चाहिए उतना मिलने में कोई कठिनाई नहीं होगी। आखीर में वे कहते हैं कि करघे को जिसे अबतक मिलों से प्रतियोगिता करने में सफलता मिलती रही है, जिन्दा रखने के लिए भी उसका समर्थन जोरों से करना चाहिए। करघे के कुछ हिमायती तो यहांतक कहते हैं कि हाथ-कताई, यानी चरखा-आन्दोलन हानिकारक भी है; क्योंकि हाथ-बुनाई के सम्भवित उद्योग की ओर से लोगों का ध्यान हटा कर यह उन्हें एक ऐसे धन्धे का समर्थन करने के ग़लत रास्ते में ले जाता है जो अपनी आन्तरिक कमजोरियों के कारण ही मर गया है।

अब इस भयावने मालूम पड़नेवाले तर्क की हम जाँच करें।

पहली बात तो यह है कि सहायक धंधे के रूप में हाथ-बुनाई का धन्धा व्यावहारिक योजना नहीं है; क्योंकि इसे सीखना सहज नहीं है। यह किसी भी जमाने में हिन्दुस्तान में सार्वत्रिक नहीं था; इसके लिए कई आदमियों की जरूरत पडती है, और जब कभी फुरसत के समय में यह नहीं किया जा सकता। यह तो स्वतन्त्र धन्धे के रूप में ही रहा है, और साधारणतः ऐसा ही रह सकता है और अधिकांश लोगों के लिए तो जूते सीना या लोहारी के ऐसा एक-मात्र धन्धा हो सकता है। इसके अलावा जिस मानी में हाथकताई हिन्दुस्तान में घर-घर फैल सकती है, उसी मानी में तो यह कभी नहीं। हिन्दुस्तान को ४६,६१० लाख गज कपड़ा सालाना की जरूरत है। एक जुलाहा औसतन् एक घण्टे में पौन गज मोटी खादी बुनता है। इसलिए सभी विलायती और देशी मिलों का कपड़ा अगर हम दूर कर सकते

तोभी दो घण्टे रोजाना काम करनेवाले अधिक से अधिक ९० लाख बुननेवालों की जरूरत होगी। अगर यह कहा जाय कि इतने जुलाहों के बदले, जुलाहों के उतने ही परिवारों को काम मिलेगा तो फिर दो घण्टे की दो आने की आमदनी कई आदमियों में बँट जायगी और इस प्रकार एक आदमी की रोजाना आमदनी में काफी कमी हो जायगी। अब हम जरा चरखे की शक्यता पर भी विचार करें। हम यह जानते हैं कि एक समय हिन्दुस्तान के घर-घर का यह एक-मात्र सहायक धन्धा था। करोड़ों को अभी इसका हुनर याद है, और लाखों घरों में अब भी चरखा है। इसलिए हाथकताई का तुरत ही और बेहद प्रचार किया जा सकता है। और चूंकि यह भी जाना गया है कि १० कातनेवाले १ जुलाहे के काम-लायक काफी सूत दे सकते हैं, इसलिए ९० लाख जुलाहों के कारण ९ करोड़ कातनेवाले अपनी आमदनी बढ़ा सकेंगे और उनके लिए यह बढ़ती कोई कम न होगी। मैंने ४० रुपया फी आदमी, सालाना आमदनी का बहुत बड़ा औसत सही मान लिया है। उसमें उन्हें १० रुपया सालाना की बढ़ती हो सकेगी और वे इसका स्वागत अवश्य करेंगे। बुनाई के विरुद्ध कताई को किसी भी समय बन्द कर सकते हैं, और इसलिए जब कभी जितनी फुरसत मिले, उतने में ही कुछ काम कर ले सकते हैं। चरखा चलाना सहज में ही बहुत शीघ्र सीखा जा सकता है और चरखा चलानेवाला शुरू-शुरू से ही कुछ न कुछ सूत निकालने लग जाता है।

और मिल के सूत का भरोसा करना भी गलत है। हाथ-बुनाई, और मिल की बुनाई, सहायक धन्धे नहीं हैं। दोनों

परस्पर विरोधी हैं। सभी यन्त्रों के समान, मिल की प्रवृत्ति भी हाथ के काम को बन्द करने की ही है। इसलिए हाथ-बुनाई को बड़े पैमाने पर सहायक धन्धा बनाना है तो उसे मिलों पर ही बिलकुल निर्भर करना पड़ेगा और मिलें, सूत के दाम में जुलाहे से जितना पैसा खींच सकेंगी, खींच कर जनमते ही इस उद्योग का गला घोंट देने की कोशिश करेंगी।

उधर दूसरी ओर हाथ-बुनाई और हाथ-कताई परस्पर सहायक धन्धे हैं। यह बात खादी-केन्द्रों के अनुभव से सहज ही साबित की जा सकती है। यह लेख लिखते समय भी मेरे पास ऐसे मित्रों के पत्र पड़े हुए हैं जो यह लिखते हैं कि सूत की कमी से उन्हें जुलाहों को खाली हाथ लौटा देना पड़ रहा है।

यह बात अधिक लोग नहीं जानते कि मिल के सूत बुनने वाले जुलाहों की बहुत बड़ी संख्या साहूकारों के पंजे में है और जबतक मिल के सूत का भरोसा वे करते रहेंगे उनकी वही हालत रहेगी। ग्राम्य अर्थ-शास्त्र के अनुसार जुलाहे को मिलों से न ले कर अपने साथी किसान से ही सूत लेना चाहिए।

जहांतक पता चलता है, आज सिर्फ १९ लाख जुलाहे काम कर रहे हैं। अब हर एक नये करघे के मानी हैं १५ रुपये की नयी पूंजी लगाना। हर एक नये चरखे के लिए साढ़े तीन रुपये से अधिक की जरूरत नहीं है। खादी-प्रतिष्ठान के चरखे का दाम सिर्फ दो ही रुपये हैं। और कुछ न हो सके तो घर की बनी तकली तो बिना खर्च के ही तैयार हो सकती है।

इस प्रकार एकमात्र चरखा ही आधार मालूम पड़ता है, जिसपर सन्तोषजनक रूप से गाँवों का संगठन हो सकता है।

यही वह मध्यबिन्दु है, केवल जिस एक वस्तु के चारों ओर ग्रामों का पुनः-संगठन सम्भव है।

मगर यह कहा जाता है कि ग़रीब देहातियों के लिए भी फी दो घन्टे एक पैसे की आमदनी आकर्षक नहीं होगी। पहली बात तो यह है कि चरखा उन लोगों के लिए नहीं है, और उन्हें चरखा चलाने को कोई कहता भी नहीं, जिन्हें अधिक आमदनी का कोई रोज़गार हो। नहीं तो फिर इसका क्या मतलब कि आज हज़ारों औरतें अपना सूत जमा करके उसके दो पैसे लेने और कच्ची कपास लेने के लिए कोसों दौड़ती हैं? उन्हें अगर कोई करघा चलाने को कहे तो वे उसे कभी न करेंगी। इसके लिए उन्हें न तो समय मिलेगा, और न उनमें इसकी योग्यता ही होगी। शहर के रहनेवालों को जनता की खून चूसनेवाली ग़रीबी का कुछ पता नहीं है। उनके बारे में हम यन्त्रों की बात नहीं चला सकते। मैन्चेस्टर की कलों ने उनकी सूखी रोटी का नमक छीन लिया है, और चरखा वही नमक था, जिसका स्थान उसके ऐसी या उससे किसी अच्छी चीज़ ने पूरा न किया। अतएव इन लोगों का एक-मात्र आश्रय चरखा ही है।

यहाँ मैं कृषि की उन्नति के सम्बन्ध की इससे अधिक साहसिक किन्तु गूलर के फूल जैसी योजनाओं की जाँच नहीं करता। मुझे इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि उनके लिए काफ़ी जगह है। मगर यह तो समय और शिक्षा की बात है। इधर हमारी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़नेवाली ग़रीबी की तो तुरत ही दवा होनी चाहिए और यह सिर्फ़ एक चरखे से ही सम्भव है। ऐसी उन्नतियों की संभावना को चरखा न दूर करता है, न उनकी

उपेक्षा ही करता है। यह उनकी भूमिका है। जहां-जहां यह गया, गांववालों के जीवन पर इसके तरह-तरह के असर पड़े। यह शहराती लोगों को दिहातियों और उनका दिहातों के साथ जीवन्त सम्पर्क रखने की शक्ति देता है।

अब आलोचक यह पूछते हैं कि "अगर आप केवल कातने ही को कहते हैं तो फिर सब लोगों ने इसे अबतक शुरू क्यों न कर दिया ?" यह सवाल सर्वथा समुचित है। इसका जवाब बहुत सहज है। चरखे का मन्त्र हमें उन लोगों को सुनाना है जिनमें कोई आशा, काम करने की कोई उत्कण्ठा बिलकुल नहीं बची है और जिन्हें अगर छोड़ दिया जाय तो जो भूखे रहेंगे, और मरेंगे मगर काम कर के जीयेंगे नहीं। पहले यह हालत न थी, किन्तु बहुत दिनों की लापरवाही ने आलस्य को इन आदमियों में आदत के तौर पर दाखिल कर दिया है। इस आलस्य को दूर करने का एक ही उपाय है और वह यह कि उनके सामने चरित्रवान् परिश्रमी पुरुषों का उदाहरण रहे और उनसे उनका जीवन्त सम्पर्क रहे। दूसरी बड़ी कठिनाई है, खादी के लिए तैयार बाजार का अभाव। मैं कबूल करता हूँ कि हाल में वह मिल के कपड़ों से इसमें बाजी नहीं ले सकती। मैं किसी ऐसी मारक प्रतियोगिता में पड़ना भी नहीं चाहता। जिसके पास पूंजी है, वह बाजार पर कब्जा करने के लिए अपना मखमल भी मिट्टी के मोल बेंच सकता है। लेकिन वह व्यापारी जिसकी पूंजी केवल मिहनत ही भर है, ऐसा करने की हिम्मत नहीं कर सकता। क्या उस बहुत ही सुन्दर मगर बनावटी गुलाब में और फिर खिले हुए जिन्दा मगर असमान दलवाले गुलाब में कोई

मुकाबला हो सकता है, या राणा प्रताप या उनकी मोम की मूरत में ही कोई बराबरी हो सकती है ? खद्दर जीवित वस्तु है। किन्तु सच्ची कला को पहचानने की हिन्दुस्तान की आंख ही फूट गई है और इसलिए वह बाहरी चमक-दमक पर ही खुश है। राष्ट्र के लिए लाभदायक खद्दर के प्रति लोगों में प्रेम पैदा कर दो और फिर हर गांव में मधुमक्खियों के छत्ते के समान हलचल मच जायगी। अभी तो खादी-मंडलों को अपनी बहुत शक्ति खादी बेंचने में ही लगानी पड़ती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि इतनी कठिनाइयों के होते हुए भी यह आन्दोलन बढ़ता ही जाता है। अभी तो एक पर-साल में ही १२ लाख रुपये से भी अधिक की खादी बिकी थी। मगर जब इसका खयाल किया जाता है कि हमें कितना काम करना है, तब इसकी वक़त कुछ भी नहीं मालूम होती। इस प्रकार मैंने सहायक धन्धे के रूप में करघे के नाम, चरखे का दावा संक्षेप में यहां पेश किया है। यहां विचार-विभ्रम न होना चाहिए। मैं करघे का विरोधी नहीं हूँ। यह बहुत ही बड़ा उन्नतिशील घरू-धन्धा है। अगर चरखे को सफलता मिली तो यह आप ही आप उन्नति करेगा। अगर चरखा असफल रहा तो इसकी भी मृत्यु निश्चित है।

हाथ-करघे की बुनाई की भ्रान्ति *

सौराष्ट्रों के मानपत्र के उत्तर में मदुरा में गांधीजी के कथन के अंश

"तुम मुझे देशी मिलों का या विलायती सूत ले कर भी हाथ-करघे का प्रचार करने को कहते हो, क्योंकि तुम जैसा महीन और जितनी मिकदार में सूत चाहते हो, हाथकता सूत नहीं मिलता। अब तुम्हारी इस सलाह के न मानने के कारण मैं बतलाता हूँ। मैं बतला दूँगा कि अगर यह सलाह मैं मान लूँ तो इससे तुम्हारा भी बुरा होगा, और जो लोग मेरी दृष्टि में हैं, और जिनका खयाल तुम्हें भी रखना चाहिए, उनका भी बुरा होगा। जैसे तुम समझते हो कि हर एक जुलाहा जो मिल का या विलायती सूत बुनता है, उसे मिलें जो नाच चाहें नचा सकती हैं। बतौर सावधान व्यापारियों के तुम्हें समझना चाहिए कि जिस दिन दुनिया की मिलें वह कपडा बुनने लगेंगी जो केवल तुम जुलाहे आज बुनते हो उस दिन तुम्हारे हाथों से हाथ-करघे का व्यवसाय निकल जायगा। अगर तुम यह बात नहीं जानते हो तो मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि दुनिया के कितने ही चतुर मिल-मालिक उस कपड़े को बुनने का प्रयोग कर रहे हैं जो आज केवल तुम्हारा ही इजारा है। अगर मिल-मालिक या मिलें तुम्हारे उद्योग हथियाने की कोशिश करती हैं तो यह उनका दोष नहीं है। अपने कलपुर्जों में बराबर उन्नति करते जाना और

---

* 'हिन्दी-नवजीवन' २० अक्तूबर, १०२७।

दुनिया के हाथशिल्प पर निरंतर हाथ बढ़ाते जाना—यही तो इन व्यवसायियों का उद्देश्य है। सचमुच उनकी जिन्दगी के लिए यह जरूरी है कि वे यह उद्योग भी हथिया लेवें। अगर जुलाहे मेरी बात न मानें तो हाथबुनाई के भाग्य में भी वही बात जरूर लिखी है जो हाथकताई को भुगतनी पड़ी है।

अगर तुम हाथ-बुनाई के उद्योग का इतिहास पढ़ो तो तुम्हें पता चलेगा कि आज कई हजार जुलाहे अपना धन्धा छोड़ने को लाचार हुए हैं। यही सौराष्ट्रों का ही धन्धा करनेवाले कितने ही जुलाहे आज बम्बई में झाड़ू लगा रहे हैं। पंजाब के जुलाहों में कुछ तो फौज में हैं और कुछ कसाई बन गये हैं। और इसलिए तुम समझ सकोगे कि मैं क्यों तुम्हारी सलाह नहीं मान सकता। इसके मानी यह नहीं है कि तुम आज से ही कपड़ा बुनना छोड़ दो। हां, तुम्हें मेरी ओर से प्रोत्साहन की जरूरत नहीं है। मगर मैं कहूँगा कि इसमें तुम्हारी ही भलाई है कि मैं मिल के सूत के कपड़े को इस आन्दोलन में जिसे मैं चला रहा हूँ शामिल नहीं करता। इसके समर्थन करने में तुम्हारा भी उतना ही स्वार्थ है; क्योंकि अगर यह जम जाय, उन्नतिशील और स्थायी हो जाय तो तुम में से हर एक को प्रतिष्ठित रोजगार मिलेगा।

परिशिष्ट "ख"

भारत में गांवों की बेकारी कहांतक फैली हुई है ?

इस विषय पर नीचे जो अवतरण दिये जाते हैं, वह ऐसे मुख्य सरकारी अफसरों से लिये गये हैं, जिन्हें अपनी जांच और अनुभव से बोलने का अधिकार है। और भी योग्य प्रमाण इसमें सम्मिलित हैं। इनके समर्थन को सम्मतियाँ तो अनगिनत हैं। एक ही सम्मति विरोध में थी। उसे भी देकर उसपर विचार किया गया है।

भारत की गणना, १९२१, जिल्द १, अध्याय १२, पृष्ठ २४४-२४५

श्री टाम्पसन, बंगाल के गणनाध्यक्ष, यों लिखते हैं—

"......इसका अर्थ है २.२१५ एकड़ प्रति काम करनेवाला। ऐसे ही अंका के भीतर किसान की दरिद्रता की व्याख्या छिपी हुई है। सवा दो एकड़ से कम धरती के जोतने-बोने में साल भर में थोड़े ही दिन किसान को लगते हैं, ज्यादा काम ही उसके पास नहीं है। कुछ दिन किसान बड़ी मेहनत करता है। जोतता है, बोता है, निराता है, सींचता है। फिर उसे फसल काटने के समय काम पड़ता है। परन्तु साल में अधिकांश उसे बेकार रहना पड़ता है।......इस तरह के अंकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बंगाली किसान के पास इतना काम नहीं है कि अपना सारा समय उसमें खर्च करे।......बंगाल में जोतों के इतने नन्हे-नन्हे टुकड़े हो गये हैं कि खेतिहरों के पास काम काफी नहीं है। परन्तु

साथ ही और दूसरा काम उनके पास ऐसा भी नहीं है कि वह उसीमें लग जायँ। किसान का अपने खेत में जो कुछ हक़ है, जिसकी रक्षा ही आसामियों के कानून का परम उद्देश्य है, वही हक़ इस प्रान्त के भीतर मजूर के काम की मांग और आमद दोनों को ठीक-ठीक रखने में बाधक होता है। यह आशा नहीं की जा सकती कि वह इन हकों को कुरबान कर देगा और उद्योग के केन्द्रों में, बड़े-बड़े नगरों में, काम की खोज में जायगा। ऐसा शायद वह तभी करेगा जब वह जीवन से निराश हो जायगा। बंगाल की वर्त्तमान दशा में एक ही तरह से सुधार सम्भव दीखता है, वह यह है कि किसी तरह खेतिहर के पास उसके गाँव में ही उसके लिए काम पहुँचाया जाय।"

पृ० २४५। "मनुष्य-बल और खेत वाले क्षेत्र में जो आर्थिक सम्बन्ध है उसपर, अभी हाल की छपी श्री केलवर्ट की लिखी The wealth and welfare of the punjab नामक अंग्रेजी पुस्तक में, पूरी तौर से विचार किया गया है। उनकी अटकल है कि पंजाब का औसत खेतिहर जितना कुछ काम अपने खेत के सम्बन्ध में करता है, बारह महीने में पूरे डेढ़सौ दिनों की पूरी मेहनत से ज्यादा नहीं होता, और जिन दिनों वह काम में लगा भी रहता है, उन दिनों में भी, उसकी ही समझ के दिन भर का काम उतना कदापि नहीं होता जितना कि अधिक उन्नतिशील पच्छाहीं देशों में समझे जाने का रिवाज है।"

पृ० २७०। बिहार और उड़ीसा-प्रान्त के गणनाध्यक्ष श्री टाल्लेंट्स हाथ की बुनाई के बारे में यों कहते हैं—

"किसान को साल के भीतर ऐसे भी अवसर मिलते हैं जब

उस के घर भर खेत में परिश्रम करते हैं, और ऐसे भी समय आते हैं जब उन्हें काम नहीं रहता, घर-भर बेकार रहते हैं। ऐसे समयों में बहुत-सी हो सकनेवाली मेहनत बरबाद जाती है और किसी सहायक धन्धे की तो भारी गुंजाइश होती है।"

पृ० २७१। संयुक्त-प्रान्त के गणनाध्यक्ष श्री एडाई, खेती के सहायक घरेलू धन्धों के बारे में लिखते हैं—

"आबादी का घना भाग तो खेतिहर है और यहां खेती का अर्थ साधारण रीति से साल में दो फसल जोतना, बोना, काटना और रखना है। विलायत की-सी मली-जुली खेती नहीं है। इस तरह की खेती में कभी-कभी थोड़ी मुद्दत के लिए बड़ी कड़ी मेहनत रहती है—साधारण रीति से दो बोवाई, कटाई, बरसात में कभी-कभी निराई और सरदी में तीन बार की सिंचाई—और बाकी सालभर प्रायः कोई काम नहीं रहता। ऐसे भागों में जहां खेती की दशा अनिश्चित रहती है, कभी-कभी मौसिम भर और कभी साल भर भी, बेकार रह जाना पड़ता है। यह बेकारी के दिन अधिकांश अवस्था में सुस्ती में ही बीतते हैं। जहां किसान कोई ऐसा काम कर सकता है, जो खेती से बचे हुए समय में सहज ही हो सके और जिसमें बराबर लगे रहने की जरूरत न हो, तो उस काम की जो मजूरी मिले, वह बचाये हुए समय के दाम हैं, उससे बरबादी बचती है और वह साफ मुनाफा है। इनमें सब से अच्छा नमूने का काम और जिसका सब से अधिक प्रचार भी है, हाथ के कते सूत का कपड़ा तैयार करना है।"

पृ० २७४। साधारण मजूरों की दशा पर लिखते हुए मध्यप्रान्त के गणनाध्यक्ष श्री रौटन यह लिखते हैं—

"अपनी जीविका के लिए जिस खेती-बारी पर आबादी का बहुत बड़ा अंश अवलम्बित है, उसमें बराबर साल भर काम में लगे रहने की गुंजाइश नहीं है। इस प्रान्त में बहुत बड़े-बड़े भाग ऐसे हैं जिनमें बरसात के बाद कटनेवाली खरीफ की फसल ही एक महत्व की फसल है और जब यह कट जाती है फिर दूसरी बरसात के आने के लगभग तक काम का काल पड़ा रहता है, काम नहीं रहता।

भारत-सरकार के समाचार-विभाग के डाइरेक्टर श्री रशब्रुक विलियम्स ने *India in 1923–24* नामक एक पुस्तक सम्पादित की है। विधान के अनुसार यह वार्षिक विवरण पार्लिमेंट के सामने पेश करना पड़ता है। इसमें पृ० १९७ पर [Central Publication Branch Government of India, Calcutta] यों लिखा है—

"भारत के बहुत से प्रान्तों में ऋतु के कारण साल भर के कुछ काम करनेवाले दिनों में एक तिहाई से अधिक किसान को बेकार बैठा रहना पड़ता है।"

पंजाब-सरकार के सहकार-विभाग के रजिस्ट्रार श्री एच. केलवर्ट ने *Wealth and Welfare of the Punjab* नामक पुस्तक में जो Oxford University Press द्वारा प्रकाशित हुई है, यों लिखा है—

"पंजाब का औसत खेतिहर जो कुछ काम करता है, बारहों मास की पूरी मेहनत में डेढ़सौ दिनों से अधिक उसका काम नहीं ठहरता।"

बंगाल-सरकार के हाल के बन्दोबस्त के अफ़सर श्री जे. सी.

ज़ैक ने एक पुस्तक लिखी है "*Economic Life of a Bengal District* oxford University Press, London, 2nd Printing, 1927 उसमें पृ० ३९ में कहते हैं—

"जब खेतिहर की जमीन जूट के (पटसन के) लायक नहीं रह जाती, तब उसका साल भर का समय तीन महीने की कड़ी मेहनत और नव महीने की बेकारी में बीतता । और अगर वह जूट के साथ ही साथ चावल की भी खेती करे तो जुलाई-अगस्त के महीने में उसे छः हफ्ते का काम और मिल जाता है।"

मद्रास-विश्व-विद्यालय के अर्थशास्त्र के अध्यापक श्री गिल्बर्ट स्लेटर ने एक पुस्तक लिखी है *'Some South Indian Villages* (Oxford University Press, London, 1918.) इस पुस्तक में पृ० १६ पर यों है—

"मद्रास प्रान्त की तरह एक फसलवाली जमीन पर खेतिहर को साल-भर में केवल पांच महीने का काम मिलता है और जहां धरती दो फसल देती है वहां आठ महीने काम रहता है।" [इसके आगे वह कहते हैं कि यही दशा मैसोर की और शेष समस्त दक्षिण भारत की भी है।]

पृ० २४५। "इस समय दक्षिण भारत में कम काम मिलने के जीर्ण रोग के एक भारी पैमाने पर फैले रहने की दशा है।"

लखनऊ-विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र के अध्यापक श्री रा० मुकरजी ने एक पुस्तक लिखी है " *Rural Economy in India* (Longmans Green, 1926) । उसमें लिखा है—

पृ० ७३ । **भारत में मजूरी की छीछालेदर**—"प्रोफेसर भल्ला ने बड़ी सावधानी से जो अटकल की है, उससे तो यह पता लगता है कि एक साधारण मजूरी का दिन १० घण्टे का मानें तो पंजाब का किसान कुल दो सौ अठत्तर ही दिन काम करता है । परन्तु उनकी अटकल साढ़े तेरह एकड़ की जमीन पर काम करने की है । परन्तु जोतें तो प्रायः बहुत छोटी-छोटी होती हैं और किसान को उसी हिसाब से काम भी बहुत थोड़ा मिलता है ।......संयुक्त-प्रान्त में जो हम मान लें कि मझोली कड़ी जमीन की औसत ढाई-ढाई एकड़ की जोत पांच-पांच प्राणी के एक-एक परिवार के पास है, और किसान दो एकड़ में जल्दी होनेवाला धान रोपता है और फिर मटर, और आधे एकड़ में ऊख बोता है, तो अकेले काम करते हुए उसे इतना काम मिल जायगा कि वह साल में ढाई सौ दिन पूरी मेहनत करे । नरम जमीन में अगर वह कोदो और अरहर बोवे और फिर, बदल कर जौ की बोवाई करे और कुल ढाई एकड़ काम में लगावे तो उसे औसत डेढ़ सौ दिन का ही काम साल भर में मिलेगा । (गोरखपुर जिले की बन्दोबस्ती जांच की रिपोर्ट, १९१८, पृ० २१ ।) डाक्टर स्लेटर के अनुसार कुल दक्षिण भारत की खेती की जमीन का हिसाब लेने पर किसान को जितने दिन वह बराबर मजूरी कर सकता है, उतने का आधा भी काम नहीं मिल सकता अर्थात् बारह महीने में केवल पांच महीने का ही काम मिल सकता है ।"

किसी ने "बहुत-बरसों तक-खेती के काम में-रहनेवाले-व्यापारिक किसान" के कल्पित नाम से लंडन से निकलनेवाले

"दि राउण्ड टेबिल" नाम के सामयिक पत्र में, १९२५ के जून में पृष्ठ ५३३ पर "भारत के गांवों की समस्या" नामक लेख में यों लिखा है—

"एक भारी असमर्थता यह है कि गांवों की एक-एक परिवार की जोतें इतनी कम हैं कि न तो किसान के लिए उसके समय को पूरा काम में लाने लायक काम है और न उसके बैलों के लिए ही काम है। कुछ अठवारों तक जोतने में बोने में और फसिल काटने में काम रहता है। जब फसिल होती रहती है तब उसकी रखवाली में घर के कुछ लोगों को काम मिल जाता है। परन्तु साल का अधिकांश समय तो ऐसा बीतता है कि किसान को दिन काटना भी कठिन हो जाता है। भारत के अनेकानेक भागों में आधे किसानों का समय तो जबरदस्ती की बेकारी में ही कटता है।"

ई. डी. ल्यूकस ने जो लाहौर के फारमन क्रिश्चियन कालिज के प्रिंसिपल थे, अपनी "*The Economic Life of a Panjab Village*" (Published Lahore, 1922) नामक पुस्तक में यों लिखा है—

"पंजाब के कलीमपुर का एक साधारण जमींदार अपनी तीन चार एकड़ जमीन पर, दिन भर दस घण्टे के काम के हिसाब से साल में लगभग एक सौ सत्तावन दिनों तक ही काम करता पाया जाता है।"

जुलाई १९२५ के एशियाटिक रिव्यू में भारत की खेती के रायलकमीशन के मेंबर प्रोफेसर एन्० एन्० गांगुली, "भारत के ग्रामीण जीवन की समस्याओं" पर पृ० ४३१ में कहते हैं—

"गांवों में किसी तरह के संगठित धन्धे के अभाव में, भारतीय ग्रामीण जीवन में आये दिन बनी रहनेवाली बेकारी एक अद्भुत विशेषता हो गई है।"

केलवर्ट के अवतरण के बाद, सन् १९२७ के अप्रेल के कलकत्ते के 'माडर्न रिव्यू' नामक पत्र में पृ० ३९९ पर श्री आर. के. दास अपने "भारत के मनुष्य-बल का क्षय" नामक लेख में यों लिखते हैं—

"वर्त्तमान लेखक ने संयुक्त प्रान्त और बंगाल में जो जांच की है उससे भी प्रकट होता है कि साधारण किसान या कारीगर को साल में सात महीने से ज्यादा काम नहीं रहता।"

भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के सम्बन्ध में बेकारी की इसी तरह की दशाओं के वर्णन नीचे लिखे प्रमाणभूत लेखों और पुस्तकों में पाये जाते हैं। खेद है कि जब यह पुस्तकें मुझे देखने को मिली थीं, तब मैं उपयुक्त स्थलों की नकल नहीं कर सका।

Land and Labour in a Deccan Village by H. H. Mann, Agricultural Advisor to Bombay Presidency, Study 1, 1917; Study II, 1921, Oxford University Press, London.

The Pujab Peasant in Prosperity and debt, by M. L. Darling, Oxford University Press, 1925.

Wealth of India, by Wadia & Joshi, Macmillan London, 1925.

Economic Organization of Indian Villages, Vol 1, Deltaic Villages, Andhra Economic Series, Andhra University, 1926, *Statement Exhibiting*

the Monal and Material Progress and Condition of India, 1923-24 (officail) P, S. Kings & Sons, London.

अर्थशास्त्र की दृष्टि से किसानों की इस दशा को हम अधिक शुद्ध शब्दों में "कम काम मिलने की भयानक दशा" कह सकते हैं। परन्तु जो वास्तविक घटना है वह नाम-भेद से तो बदल नहीं सकती। India in 1925—26 नामक पुस्तक में भारत के सार्वजनिक समाचार-विभाग के डाइरेक्टर श्री कोटमैन ने जो नीचे लिखी विचित्र बात कही है, उसकी व्याख्या यही है। वह पृ० २३९ पर लिखते हैं कि "अधगोरी जातियों और पढ़ी-लिखी मध्यम श्रेणियों को छोड़कर, जिनके विषय में अभी विचार किया गया है, मोटी रीति से, **भारत में बेकारी की कोई समस्या नहीं है।**" इतने पर भी इस प्रसंग भर में "कम काम मिलने की" कहीं चर्चा नहीं है और सारा अंश बहुत अस्पष्ट है और उसकी विविध व्याख्यायें हो सकती हैं। यदि उनका यह तात्पर्य केवल शहरों से है तो उन्हें साफ़ कहना चाहिए था। इस सम्मति को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कोई प्रमाण भी नहीं दिया है। ऊपर हमने जो प्रमाण दिये हैं उनकी जांच और लिखने के समय से अबतक भारत के गांवों की दशा में इतना काफी फेर-बदल नहीं हुआ है कि जिस बेकारी का तब पता लगा था वह अब मिट गई हो या काफी तौर से घट गई हो। श्री कोटमैन की यह "मोटी रीति" हमारी मोटी अकल में नहीं समाती।

परिशिष्ट (ग)

एक गांव और एक परिवार के लिए कपड़े का बन्दोवस्त *

एक गांव के कपड़े का प्रबन्ध

कपड़ा तैयार करने को यह चीजें चाहिएँ। कपास, ओटनी, धुनकी, चरखा और करघा। इन चीजों के लिए यह काम करने वाले चाहिएँ। किसान, ओटनेवाला, धुननेवाला, कातनेवाला और बुनकार।

देश में कुछ ही ऐसी जगहें हैं, जहां रुई नहीं होती। ऐसी जगहों में कपास, और पैदा करनेवाली जगहों से लाई जा सकती है।

फसल अच्छी हो तो एक एकड़ जमीन में ८०) भर के सेर से १०० सेर या अढ़ाई मन कपास होती है। परन्तु भारत में रुई की औसत उपज खेतों में एकड़ पीछे लगभग ५० सेर ही है।

हाथ की चरखी पर एक आदमी कपास ओटे तो प्रति दिन पांच सेर कपास ओट सकता है। साल में १५०० सेर या ३७॥ मन हुए। यदि ३०० दिन मात्र काम के दिन मान लें।

इसी तरह धुनकनेवाला साल में ३७॥ मन धुनकर पूनियां बना सकता है।

---

* 'यंग-इंडिया' में सन् १९२१ के ६ और १३ अक्तूबर की संख्याओं में प्रकाशित श्री लक्ष्मीदास पुरुषोत्तम के एक लेख का भाषान्तर।

चार घंटे रोज काम करके एक आदमी साल में दस नम्बर का सूत २५ सेर तक कात सकता है।

सपरिवार काम करते हुए एक बुनकार २७ इंच पनहे का खद्दर साल भर में पौने चार सौ सेर (या सवा नौ मन पांच सेर) तैयार कर सकता है।

जो हम मान लें कि एक आदमी को साल में औसत से पांच सेर खद्दर की जरूरत पड़ती है, तो तीन सौ प्राणियों से आबाद गांव जब ३० एकड़ जमीन में कपास उपजाने लगेगा और जब उसे ओटने वाले, धुनने वाले और चार घंटे रोज चलने वाले ६० चरखे और बुनकारों के ४ परिवार मिल जायँगे, तो वह गाँव कपड़े के नाते पूरा स्वावलंबी हो जायगा। भारी गाँवों और कसबों की आवश्यकताओं का भी इसी तरह हिसाब लगाया जा सकता है।

दस रुपया प्रति एकड़ की दर से तीस एकड़ धरती में खेती बारी मध्ये कुल खर्च	...	३००)
दो रुपया प्रति एकड़ के हिसाब से सरकारी माल गुजारी की अटकल तीस एकड़ की	...	६०)
चार आने सेर की दर से १५०० सेर की धुनाई और पूनियों की बनवाई का खर्च	...	३७५)
बारह आने सेर की दर से सब की कताई	...	१,१२५)
रुपये सेर की दर से बुनाई का कुल खर्च	...	१,५००)
	कुल	३३६०)

हमने ओटाई का खर्च ऊपर नहीं रखा है, क्योंकि मजूरी में ओटने वाला बीज या बीज के दाम ले लेता है।

इस तरह कुल ३ हजार ३६० रुपये के खर्च में गांव वालों को १५०० सेर या ३७।। मन कपड़ा मिल जाता है। यह लगभग अढ़ाई रुपये सेर के पड़ा।

कोई हौसलेवाला आदमी इन कामों में दो घण्टे लगावे तो उसे रुई के दामों से ज्यादा अपने कपड़े के लिए खर्च नहीं करना पड़ेगा।

अगर ज्यादा बारीक कपड़े की जरूरत हुई, तो कताई और बुनाई का खर्च बढ़ जायगा और चरखे और करघे ज्यादा लगेंगे। इससे जो कपड़ा तैयार होगा, उस पर ज्यादा खर्च बैठना तो स्वाभाविक ही है।

(सन् १९२१ में यह लेख छपा था। तब से बहुत सुधार हो चुके हैं। अब काम अच्छा और जल्दी उतरने लगा है और दाम भी घट गया है। इससे ऊपर के अंकों में लाभकारी और पक्षपोषक हेर फेर हो सकते हैं। वर्त्तमान रूप में भी, भारत में जगह-जगह बँटे छोटे पैमाने पर कपड़ा तैयार करने का यह व्यावहारिक उदाहरण है।)

एक परिवार के लिए कपडा देना *

"इस समय जैसा चरखे का सूत कतता है, मिल के सूत से बहुत मोटा होता है। यद्यपि निस्सन्देह ही काम का अभ्यास करते करते हाथ का सूत अधिक बारीक होने लगेगा, तो भी आजकल के लिए तो मुझे मान ही लेना पड़ेगा कि औसत दस नम्बर तक का सूत कतता है। भारतीय मिलों में अधिकांश ११ से लेकर २० नम्बर तक का सूत कतता है। सब से अधिक मात्रा २० नम्बर की ही तैयार होती है। मिलों में बुने हुए औसत ४ गज कपड़े की तौल आध सेर के लगभग होती है। चरखे के सूत से यह औसत तौल ढाई पाव आती है, अर्थात् गज पीछे ढाई छटांक।

पांच प्राणियों के परिवार को सालभर में जितना सूत चाहिए, उतना सूत परिवार का एक आदमी नित्य दो घण्टा काते तो मिल सकता है।

परिवार के पांच प्राणियों को साल में, प्राणी पीछे बारह गज वार्षिक के हिसाब से, कुल कपड़ा चाहिए—६० गज, ऊपर के हिसाब से परिवार को हर महीने चाहिए—५ गज,

---

* Ouota ion from *Cotton* (*khadi Manual* Vol II part IV) by Satis Chandra Das Gupta, Khadi Pratishthan, 15, College Square, Calcutta, 1924, PP. 131, 133.

पांच गज कपड़े के बराबर का १० नम्बर का सूत,
गज पीछे ढाई छटांक की दर से, चाहिए—१२॥ छटाक
महीने में २५ दिन काम करने के हिसाब से,
सूत कातना चाहिए नित्य—आधी छटाक या ढाई तोला
उसी के बराबर नं० १० के सूत की तौल, २१० गज
प्रति तोला के हिसाब से ... ... ५२० गज
घण्टा पीछे २६० गज की दर से कातने में नित्य के
समय की अटकल ... ... २ घण्टे
धुनने और दूसरे कामों में नित्य लगने वाला समय
लगभग ... ... आधा घण्टा
परिवार के कपड़ों की सारी जरूरतों के लिए नित्य
लगने वाला समय .. .. २॥ घण्टा
अथवा प्रतिप्राणी प्रति दिन ... ... आधा घण्टा

"यदि विदेशी मिलों के सूत के बन्धन से मुक्त होने की इच्छा कोई परिवार सचमुच करे, तो उसे इतना ही आवश्यक होगा कि नित्य दो घंटे उस घर में सूत कता करे, चाहे एक ही बहन नित्य इस काम का भार अपने ऊपर ले ले और चाहे और लोग भी उसके काम में हाथ बटावें। यह याद रहे कि यहां एक औसत परिवार का विचार किया गया है। यह नहीं माना जा सकता कि शहरों में शान-शौकत से रहने वाले और व्यर्थ बहुत से कपड़े पहनने वाले परिवार को विदेशी मिलों से मुक्त होने के लिए प्राणी पीछे नित्य आधा घंटा कातना काफी होगा। परन्तु देश में एक औसत दरजे के परिवार को साल में साठ गज से ज्यादा कपड़े की जरूरत नहीं होती। आठ आने गज के हिसाब

से यह खर्च ३०) होता है। मेरा विश्वास है कि पांच आदमियों के औसत परिवार में साल में कपड़े के लिए न तो तीस रुपये खर्च होते ही हैं न हो सकते हैं। एक औसत पांच प्राणियों वाले किसान-परिवार के लिए कपड़े का औसत भी ज्यादा लगाया है। १२.३ गज के औसत में तो अमीरों का अत्यधिक कपड़े का खर्च और रोजगार में और तरह के कपड़े का इस्तेमाल भी शामिल है, जैसे नावों के लिए पाल, छातों पर चढ़ाने के कपड़े, जिल्दसाजी के कपड़े, खेमे, छोलदारी और थैले आदि के लिए कपड़े जो सेना में खर्च होते हैं। इस तरह देहात के आदमियों और किसानों का असली औसत १२.३ गज से बहुत कम है। चरखे से कते सूत से हमारी सारी आबादी को कपड़ा पहना देना इतनी सरल बात है कि हमलोग इसका पूरा मतलब और महत्व अबतक नहीं समझ सके, यही बड़े अचंभे की बात मालूम होती है।"

पृ० १३३। सालभर में प्राणी पीछे साधारण १२ गज के औसत का कपड़ा तैयार करके देने के लिए केवल दो कट्ठे या एक बिस्वा के लगभग खेत में कपास उपजाने की आवश्यकता होगी। (बंगाल में जितनी भूमि को एक कट्ठा कहते हैं, वह एकड़ का साठवां अंश और संयुक्त प्रान्त के सरकारी परिमाण से आधे-बिस्वे के लगभग होता है। ६० घरों या ३०० प्राणियों के एक छोटे गाँव के खर्च के लिए पक्के पन्द्रह बीघे की कपास की उपज काफी होगी।

परिशिष्ट (घ)

कल पुरजों की मर्य्यादा

"हिन्द स्वराज्य" नाम की पोथी में जो सन् १९०८ में लिखी गई थी, गांधीजी ने लिखा था कि "आजकल की सभ्यता की खास मूर्त्ति कल-कारखाना है। यह एक महा-पाप का रूप है।" उस पोथी के १९२१ वाले संस्करण की प्रस्तावना में उन्होंने कल-कारखानों पर अपने पहले के कथन को इस प्रकार मर्य्यादित किया—"मैं तो सारे कल-कारखानों और मिलों को नष्ट करने की फिकर में उतना नहीं हूं। आज लोग जितने त्याग और जितनी अधिक सादगी के लिए तैयार हैं, उससे कहीं ज्यादा की जरूरत है।"

सन् १९२१ की जनवरी की १९ तारीख के 'यंगइंडिया' में एक लेख में उन्होंने यों लिखा, "कल-कारखानों के गायब हो जाने पर मैं कभी आंसू न बहाऊंगा और न उसे कोई विपदा समझूँगा। परन्तु कल-कारखानों की दृष्टि से ही कल-कारखानों को नष्ट करने का उपाय मैं नहीं कर रहा हूं। मैं इस समय जो कुछ करना चाहता हूँ, इतना ही है कि मिलों से जो सूत और कपड़ा तैयार होता है, उस उपज में कुछ बढ़ाऊं और जो करोड़ों रुपये बाहर जाते हैं, उन्हें बचाकर अपनी झोंपड़ियों में बँटवा दूं।" बेलगाँव की राष्ट्रीय महासभा में अध्यक्ष की हैसियत से जो दिसम्बर १९२४ में उन्होंने वक्तृता दी थी, और जो २६ तारीख के

'हिन्दी-नवजीवन' में छपी थी, उसमें उन्होंने यह भी कहा था—"कल-कारखाने के सम्बन्ध में मेरे विचार के नाम से जो भ्रम फैला हुआ है, मैं चाहता हूँ कि आप लोग उसे भी अपने दिमाग़ से निकाल डालें। पहली बात तो यही है कि जैसे मैं अहिंसा के संबन्ध में अपने सारे विचार आपके सामने मंजूरी के लिए नहीं रखता हूँ, उसी तरह कल-कारखानों के बारे में भी अपने सारे विचार आपके सामने नहीं रख रहा हूं।"

सन् १९२५ के ५ नवम्बर की 'यंगइंडिया' में फिर उन्होंने यों लिखा है "कल-कारखानों के लिए भी जगह है, और खास जगह है। कल-कारखाने आ गये हैं, तो रहेंगे। परन्तु उसे मनुष्य के आवश्यक परिश्रम की जगह न ले लेनी चाहिए। सुधरा हुआ हल अच्छी चीज है। परन्तु ऐसा संयोग आजाय कि एक ही आदमी सारे भारत के खेत जोत सके और सारी पैदावार पर अधिकार कर ले और करोड़ों आदमियों को कोई काम न रह जाय, तो सब भूखों मरने लगेंगे और बेकार रहकर उसी तरह मूढ़ हो जायँगे जैसे आज अनेक हो गये हैं। प्रति घंटे इस बात का भय है कि अधिकाधिक लोग इस मूढ़ता की अनिष्ट दशा को न पहुँच जायँ। घरेलू यंत्र में हर तरह के सुधार का मैं स्वागत करूँगा, परन्तु मैं तो यह जानता हूँ कि करोड़ों किसानों को घर बैठे काम देने का जबतक कोई बन्दोबस्त नहीं है, तबतक पुतलीघर की कताई चलाकर हाथ के परिश्रम को बन्द करना दण्ड के योग्य अपराध है।" उसी पत्र के उसी सन् के १७ सितम्बर के अंक में उन्होंने लिखा है "कल-कारखानों ने जो हाथ के काम को खदेड़कर लूट मचा रखी है, इस अवस्था को

दूर करने के मतलब से ही चरखा-आन्दोलन का सुसंगठित उद्योग है।" एक लेखक ने जब यह प्रश्न किया कि क्या आप सब तरह के कल-पुरजों के विरोधी हैं, तो १९ जून १९२६ के अंक में उन्होंने यह उत्तर दिया, "मेरा उत्तर जोर के साथ है, नहीं!' परन्तु उसे अन्धाधुन्ध बढ़ाते जाने का मैं अवश्य विरोधी हूँ। देखने में कलपुरजों की जो विजय मालूम हो रही है, उसकी चकाचौंध में आने वाला आसामी मैं नहीं हूँ। समस्त नाशक कल-पुरजों का मैं कट्टर विरोधी हूँ। हां, सादे हथियारों का और औजारों का और ऐसी कलों का जिनसे आदमी को आराम मिले और करोड़ों झोंपड़ियों में रहने वालों का बोझ हलका हो, मैं स्वागत करूँगा।"

सन् १९२७ के १२ मार्च के अंक में हाल में ही वह कहते हैं—"मेरा तो यह विश्वास नहीं है कि आवश्यकताओं को बढ़ाने और फिर उन्हें पूरा करने के लिए कल-कारखानों को बढ़ाने से संसार एक पग भी अपने इष्ट की ओर बढ़ेगा।......चरखा सब कलों को नष्ट करने का अभिलाषी नहीं है, बल्कि उसके प्रयोग को संयम में रखता और उसे घास की तरह व्यर्थ फैलने से रोकता है। अत्यन्त दरिद्रों की सेवा के लिए उनकी झोंपड़ियों में चरखा-रूपी कल ही तो काम में आती है। चरखा तो आप ही एक उत्तम प्रकार की कल है।"

इन अवतरणों से स्पष्ट है कि गांधीजी की प्रवृत्ति साधारणतया कलों के प्रयोग को केवल मर्य्यादित करने की ओर है।

जब यह दशा है कि इन मतों के कारण लोग गांधीजी की कड़ी टीका कर चुके हैं और हँसी उड़ा चुके हैं, और इस तरह

उनके शेष आर्थिक विचारों की यथार्थता पर लोगों के मन में सन्देह उठ चुका है, तो मेरे विचार में उनके मतों के औचित्य की जितनी कुछ संभावनायें हैं, सब की जांच अधिक ध्यान से होनी चाहिए।

यह बात तो निर्विवाद है कि आजकल जो कल-कारखानों का विस्तार से प्रयोग हो रहा है, वह बल को प्रचुर-प्राप्ति पर निर्भर है—विशेपतः कोयला और तेल की। यह भी निर्विवाद है कि पच्छाहीं राष्ट्रों को धीरे-धीरे ईंधन के आमद के घटते जाने वाली विपत्ति का सामना करना पड़ रहा है। इंग्लिस्तान और वेल्स में सन् १८८३ ई० से कोयले की खुदाई का खर्च बराबर बढ़ता जा रहा है। यूरोप में कोयले की उपज कई साल से प्रायः स्थिर दशा में रही है।

"प्रमाणों से सिद्ध होता है कि यूरोप यदि शक्ति के बढ़ते खर्च हुए की दशा से आगे नहीं बढ़ गया है, तो कम से कम उस दशा को पहुँच अवश्य गया है।......"

"यद्यपि हिसाब से लाखों बरस बाद खानें एकदम खाली हो जायँगी, तो भी हमारे संयुक्तराज्यों के उपज के पूरबी केन्द्रों में ईंधन के बढ़ते खर्च और घटती आमद के दिन तो कोड़ियों बरसों में ही गिने जाते हैं।......"

"जिस तेजी से आज खानों की खुदाई हो रही है, उससे तो पेंसिलवैनिया में पिट्सबर्ग के कोयले का एक ही पीढ़ी में अन्त हो जायगा।"

"अमेरिका के संयुक्त-राज्यों में आजकल प्रायः ईंधन से ही शक्ति निकाली जाती है। जल-बल और अन्य साधन

तो उनसे बहुत कम हैं। सन् १९२३ में बल और ताप के कई साधनों से इस प्रकार शक्ति मिली—

ताप और बल के साधन	ब्रिटिश ताप मात्रा की इकाइयाँ, महासंखों में	पूरे पर इतने सैकड़ा
कोयला	१७३०	६५
घरेलू तेल	४४०	१६
गैस	१०८	४
बाहर से आया तेल	४९	२
जल-बल	११४	४
काम करने वाले पशु	८५	३
लकड़ी	१५०	६
पवन-चक्की	२	.०१

कुल जोड़—२६७८—(प्रायः) १००

खनिज ईंधनों से हमें प्रायः सौ में सत्तासी मात्रा की शक्ति मिलती है, यद्यपि संसार के विकसित जलबल की एक तिहाई संयुक्त राज्यों के हाथ में है, परन्तु उन्हें कुल शक्ति की आमद का सैकड़ा पीछे चार पांच ही मात्रा मिलती है।...बड़ी मुद्दतों तक ईंधन वाले तेल के देने का ठेका भी कोयले के भाव के अधीन है। इस सब से सुभीते के शक्ति-स्रोत के खर्च बढ़ते जाने के दिन बिलकुल पास ही हैं। डेनियल ह्वैट का तो यहां तक अनुमान है कि संसार का मिट्टी का तेल बीस बरस में घट जायगा। यह भी

एक महत्व का परिणाम होगा कि बढ़ा हुआ व्यय-भार कोयले पर ही पड़ेगा।*

"बदले के शक्ति-स्रोतों से भी तो यह आशा नहीं की जा सकती कि उसी सुभीते से बल और ताप दे सकेंगे जितने सुभीते से कोयले से मिलता है। संयुक्त-राज्यों का जल-बल इतना ही काफी है कि कोयला जितना बोझ संभालता है, उसके एक अंश को किसी तरह संभाल ले। ज्वारभाटों से और हवा से कुछ बल अवश्य ले सकते हैं, परन्तु जहां तक हम जानते हैं, इनमें बड़ा खर्च लगता है। श्रम और पूंजी की एक मात्रा से जितनी शक्ति-मात्रा आज मिलती है, उससे कम ही मिलेगी।"

"धूप की शक्ति को सीधे काम में लगाना भी सम्भव हो सकता है। परन्तु अबतक आदमी के बनाये किसी यंत्र से उतना सस्ता काम नहीं हुआ जितना कि एक पौधे से। परन्तु हमें तो सामग्री और भोजन के लिए पौधों की जरूरत है, और अनाज हमारी सारी फसल मिलाकर भी तेल की जगह लेने के लिए काफी मद्य-सार न बन सकेगा। संयुक्त राज्यों में के अन्न की पूरे सालभर की पैदावार से जितनी शक्ति मिल सकेगी वह हमारे

---

*F. G. Tryon & Hida Mann, of Division of Mineral Resources, U. S. Geolgical Survey—*Mineral Resources for Future Population*; being Chap. VIII of *Population Problems*, edited by L. I. Dublin Houghton Mifflin & Co, Boston, U. S. A. 1926 p. p. 131 134, 135.

सालभर के ईंधन के खर्च के सैकड़ा पीछे केवल तीन भाग के बराबर होगी।

"अब परमाणु में बँधी शक्ति को काम में लाने की संभावना वाली बात विचारने को रह जाती है।"—[इसके आगे ब्रिटेन के नामी भौतिक रासायनी, श्री रदरफोर्ड के कथन का अवतरण देकर यह दिखाया गया है कि यह आशा भी अब क्षीण होती जा रही है।]—"अपनी भावी आबादी को परमाणु-शक्ति के बल पर हम आगे चला सकेंगे, यह केवल विश्वास की बात रह गई है। संसार की प्रकृत गति को जहाँ तक हम समझते हैं, अभी तो कोयले के अधीन ही रहना पड़ेगा।

"जहाँ तक खनिज ईंधनों की बात है, अब तक के प्रमाणों से प्रकट है कि थोड़े ही समय आगे प्रचुरता घटती और खर्च बढ़ता जायगा, जिससे आज की ही वर्त्तमान आबादी को वर्त्तमान पैमाने के रहन-सहन पर बनाए रखना अधिक कठिन हो जायगा,—हाँ, यदि विज्ञान में तब तक कोई ऐसी विप्लवकारी खोज न हो गई जिससे ईंधन और जल-बल की वर्त्तमान अधीनता से मानव-जाति मुक्त हो सके।" ❀

प्रामाण्य लोगों में इस बात पर कुछ मत-भेद दीखता है कि

❀ Ibid, p. p. 135, 137. Seed also preliminary Report of the Federal Oil Conservation Board, Sept. 1926; Superintendent of Government Printing, Washington D, C., U. S. A. Parts are quoted in *The literary Digest* (New York) for Sept; 25, 1927.

ईंधनों के जल्दी खर्च हो जाने का भय है या नहीं। इस सम्बन्ध में अंग्रेजी में यह लेख पठनीय हैं। Article by James O. Lewis, late chief of Petroleum Division of U. S. Bureav of Mines, in *The Literary Digest*, New York, Sept. 4; 1926; also Anton Mohr— *The Oil War* published by Martia Hopkinson, London, 1926, the last chapter. परन्तु इस बात पर तो कोई मतभेद नहीं है कि बल का खर्चा बढ़ता जाता है। बल्कि आजकल तो महाब्रिटेन औरसंयुक्त-राज्यों की जलस्थल सेनाओं के खर्च का एक अंश मिट्टी के तेल के खर्च की अटकल में सम्मिलित कर लेना चाहिए। (Cf. Anton Mohr—*The Oil War;* La Travay—*The World Struggle for Oil*-Allen and Unwin, London; R. P. Arnot—*The Politics of Oil,* Laboui Publishing Co. London 1927) यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से कल और अंजनों की कार्य्य क्षमता बहुत ज्यादा सुधर गई है, तथापि सुधार से जितना लाभ हुआ उससे तो कहीं कधिक ईंधन या बल का बढ़ा हुआ खर्च और बँटाई के साधन का बढ़ा हुआ खर्च खा गया, और मदों पर बेशी खर्च और पूँजी के बढ़े खर्च से सामाजिक और साहूकारो के जोखिम में भी वृद्धि हो गई। स्थिति कम से कम इतनी सन्देह जनक तो जरूर है कि भारत जैसे देश में कल-कारखानों को मर्य्यादित रखने का विचार नासमझी का नहीं कहा जा सकता।

यदि बातें ऐसी ही हैं तो कल-कारखानों को मर्यादित रखने का गांधीजी का विचार कोरा कल्पित नहीं दीखता। आज वह वही काम स्वेच्छा से कर डालने का प्रस्ताव करते हैं, जो दूसरे

लोगों को समय कभी जबर्दस्ती करावेगा। हाँ, वह कारण और बताते हैं परन्तु, इससे उनके प्रस्ताव के विवेक पूर्ण होने में कोई कमी नहीं आती। *

जिन लोगों को इस प्रस्ताव से निराशा है उन्हें इस तथ्य से सान्त्वना होगी कि भारत की प्राचीन महत्ता "कोयले पर अवलम्बित न थी, और जीवन परिमाण में कमी आने से भी अधिक दुःखदायी विपत्तियाँ हो सकती हैं।" †

हम लोगों को अपना अनुमान सुधारना चाहिए। श्री जेम्स फेअरग्रीव अपने *Geography and World Power* नामक ग्रन्थ में ठीक ही कहते हैं। (पृ० ३४९)

"कोयले और तेल की खानें अनेक युगों की संचित पूँजी की तरह हैं। उन्हें जब हम लगाते हैं, तो शक्ति का संचय नहीं होता। उनकी दशा उस शक्ति से बिल्कुल भिन्न है, जिसे अभी १३० बरस ही हुये मनुष्य अपने लिये पैदा कर लेता था और वह एक ही तरह संभव था; अर्थात् उस अन्न को भोजन करा के जो कुछ ही महीनों पहले सूर्य की शक्ति को खर्च कर के तैयार हुआ था। कोयले की शक्ति का काम में लाना एक घटना है, संयोग की सी बात है। औद्योगिक महापरिवर्त्तन वाले आज कल के उलट-पलट के

---

* भगवान् मनु ने मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय के ५९ वें से लेकर ६६ वें श्लोक तक जो उपपातक गिनाये हैं, उनमें "सर्वाकरेष्वधीकारो, महायंत्रप्रवर्त्तनम्" एक आदमी का सब खानों पर अपना इजारा कर लेना, और एक आदमी का बहुत बड़े-बड़े कल-कारखाने बनाना यह दोनों भी उपपातक अर्थात् गिराने वालों में गिनाये हैं।

† Tryon and Mann, above cited.

बीच में हमको डर है कि शायद हम इस बात को भूल जायँ कि यह केवल एक **संयोग की ही बात है**, और यह कि धरातल पर जितनी कुछ शक्ति काम में आ सकती है, प्रायः सब का अन्तिम स्रोत सूरज की धूप ही है, और विशेष कर के यह बात कि आज जो उद्भिज्ज उग रहे हैं, सब से सुभीते के रूपों में वह शक्ति हमें देते हैं। बाग, बगीचा, खेती-बारी, किसी तरह से धरती से उपजाना, चाहे पुराने से पुराना कारबार हो या न हो, निस्सन्देह ही सब का जड़ मूल है।

कल-कारखाना तो सौर शक्ति को काम में लाने का एक ढंग है। हाथ की कारीगरी, दूसरा ढंग है। कारीगरी की अपेक्षा कल-कारखानों में शक्ति का व्यय अधिक होता है, परन्तु यह जरूरी नहीं है कि यह व्यय ऊँचे और अच्छे उद्देश्यों के लिए हो या उससे अच्छे नीति-संगत वा भावात्मक परिणाम निकलते हों। अभी हाल के एक वैज्ञानिक सिद्धान्त सापेक्ष वाद से यह शिक्षा मिलती है कि आकार या मात्रा या वेश केवल सापेक्ष पदार्थ हैं, इनके लिए गर्व करने की कोई बात नहीं है। यह द्रष्टा की स्थिति, प्रवृत्ति या गति की बात है और शायद अन्ततः इनका कोई मूल्य नहीं है।

कल-कारखाने के भीतरी दोष भी हैं और सुभीते भी। इनमें से अनेक दोषों की व्याख्या श्री आस्टिन फ्री मैन ने अपनी *Social Decay and Regeneration* नामक पुस्तक में बड़ी योग्यता से की है। इस पुस्तक का हवाला हम आरम्भ में दे चुके हैं। एक भीतरी दोष पर उन्होंने विचार नहीं किया है। कल की मरम्मत में, उसको चलाते रहने में, उसके घिसने,

छीजने में, उसकी चाल के उठ जाने में, बीमा, सूद, और करों में अटकल से अत्यधिक खर्च होता रहता है। इसके साथ ही पूँजीपतियों की मुट्ठी में कारबार के रहने से, इस अधिक खर्च का बोझ माली अस्थिरता पैदा कर देता है और आर्थिक बल एक ही जगह पर अत्यधिक जम जाता है। इस प्रकार की बुराइयों को दूर करने या घटाने की ओर प्रवृत्त करने के लिए कल-कारखानों की मर्यादा निश्चित करने का विचार नितान्त मूर्खता पूर्ण या असंगत नहीं हो सकता।

गांधीजी को आर्थिक और नैतिक दोनों पक्षों से कल-पुर्जों को मर्य्यादित रखने की आवश्यकता प्रतीत होती है। पहले उनसे इस विषय में मेरा मतैक्य था,* परन्तु अधिक विचार करने पर मुझे ऐसा लगता है कि अधिकांश दोष, अथवा सबसे गहरे दोष, कल-पुरजों के तो कम, परन्तु पूँजीवाद के ही अधिक हैं। इसमें तो सन्देह नहीं कि कल-कारखानों के द्वारा काम करने वाला बल दोषों को बहुत बढ़ा देता है, बहुत फैला देता है और अधिक स्पष्ट कर देता है। परन्तु वास्तविक आन्तरिक दोष मनुष्य में ही है, बाह्य जगत् में नहीं है।† कुछ थोड़ी हानि तो बस इसीलिए होती

* See my article "The morals of Machinery" in *Current Thought* Madras, for July, 1926.

† गांधी जी इस विचार का खंडन यह दिखाकर करते हैं कि जब कोई चीज भलाई के बदले बुराई में अधिक लग सकती है, जैसे शराब, तो उसे बुरी चीज कहना बेजा नहीं है। परन्तु मेरा विचार है कि यदि आज कल के उद्योग की रीति और इष्ट की भांति रहने वाले पूंजीवाद का अन्त हो जाय, तो बहुत सा कल-कारखाना भी गायब हो जायगा, और जो कुछ रह जायगा वह फिर भलाई की ही ओर अधिक प्रवृत्त होगा,

है कि लोग यह यथार्थ नहीं समझते कि कल-कारखानों के प्रयोग से क्या परिणाम निकलते हैं, उनमें क्या एचपेच और झंझट होते हैं, पूंजीवाद से उसके क्या सम्बन्ध हैं और स्वत्वाधिकार के प्रश्न से उसकी क्या संगति है।

शायद ही कोई ऐसा मूर्ख हो जो समझे कि एक अकेला आदमी कल-कारखानों का या उद्योगवाद का अन्त कर सकेगा। परन्तु तो भी इतिहास ने बहुधा यह दिखा दिया है कि एक मनुष्य अपने सम-सामयिक करोड़ों मनुष्यों की नीरव प्रवृत्ति को प्रकट कर सकता है और सबका ध्यान उसीपर जमा सकता है, और जो सामाजिक या आर्थिक शक्तियां और तरह पर ध्यान में भी नहीं आई थीं उनकी प्रवृत्ति और स्थिति को प्रकाशित कर सकता है। यह समझा जा सकता है कि गांधीजी अपने असाधारण आभ्यन्तरिक आत्मज्ञान से अनुभव करके बेजबान किसानों के अन्तरात्मा की इस भावना को प्रकट कर रहे हैं कि साल में सौर शक्ति की जितनी आय होती है, उसको पूरा-पूरा काम में लाना ही सबसे ज्यादा ठीक बात है। अथवा, वह यह प्रकट कर रहे हैं कि जगह-जगह में बँटे सामाजिक जीवन और संस्कृति और इनके विधायक साधनों को ही जम्बूद्वीप के रहने वाले अधिक चाहते हैं। अथवा, जो सामाजिक और आर्थिक टुकड़ियां मिलकर मानव-संगठन को एक बना सकती हैं, उन्हें मिलाने के एक नये ढंग को चुन लेने की प्रवृत्ति का वह रूप खड़ा कर रहे हैं।

बुराई का ओर कम। इस प्रश्न पर विचार करने वाले की ठीक स्थिति का अन्तिम निर्णय शायद उसकी दार्शनिक वृत्तियों और प्रवृत्तियों से ही हो सकता है।

शायद कम-से-कम अमेरिका में तो कल-कारखाने चलते ही रहेंगे। जम्बूद्वीप शायद अपने घर के भीतर भी उद्योगवाद का अन्त न कर सके, परन्तु वह अपने कार्य्य-प्रवाह को ऐसी धारा में बहादे, जिससे मनुष्य के लिए वह अन्ततः उपयोगी हो। सीधे-सादे किसानों की रूढ़ि-प्रियता में कभी-कभी जितनी गंभीर बुद्धिमत्ता होती है, उतनी हम समझ नहीं पाते।

इस तरह चाहे जो सुधार हो या जो मर्य्यादा बांधी जाय, कानून के बल या कूटनीति से यह काम तो नहीं होगा। प्रत्युत् इसके लिए तो सौर बल को परिणत करने के, उसके फलों को उचित रीति से बांटने के, और दोनों के सुसंगठन के और और ढंगों का वास्तविक विकास करना पड़ेगा और उन ढंगों का बड़े विस्तार से प्रचार करना पड़ेगा।

कल-कारखाना या बल को हमें काबू में करना या हद के भीतर रखना मंजूर भी हो, तो यह समझना कठिन लगता है कि हम किस सिद्धान्त पर चलें। मेरे निकट सबसे सुनिश्चित आधार यह जान पड़ता है कि मनुष्य और प्रकृति के बीच एक प्रकार की समजीविता या अन्योन्याश्रय या परस्पर की सहायता की अवस्था समझी जाय और पूँजीवाद में जितनी समझी जाती है उससे मनुष्य-मनुष्य के बीच तो उससे भी कहीं ज्यादा समजीविता मानी जानी चाहिए। यही बात शुद्ध नैतिक या आध्यात्मिक भाषा में भी कही जा सकती है। मनुष्य की सच्ची भलाई की अधीनता में ही कल और बल दोनों को रहना चाहिए। इस तरह के विचार में प्रकृति से संघर्ष वाली कल्पना और मनुष्य का प्रकृति पर विजयी होने के गर्ववाली बात भी छोड़ देनी पड़ती

है। बल्कि इसके बदले प्रकृति और वस्तु-सत्ता के और समस्त राष्ट्रों के मनुष्य-मात्र के बीच वास्तविक एकता और समभाव का सच्चा विश्वास उत्पन्न करना होगा। ऐसी वृत्ति भारतीय विचार शैली के बिलकुल अनुकूल पड़ती है, चाहे उन पच्छाहीं पाठकों को, जिन्होंने विज्ञान के ❀ हाल के विकास का अध्ययन नहीं किया है, यह वृत्ति कैसी ही अद्भुत या अटपटी लगे।

इसी समजीविता में अथवा शक्ति के ठीक पड़ता बैठाने में चूक जाने के कारण ही अपने संचित बल के अमर्य्यादित प्रयोग के सहित कल-बल पच्छाँह के लिए सुबोध भाषा में एक भारी पाप कहा जा सकता है, जैसा कि गांधी जी ने कहा है। कल के द्वारा इंग्लिस्तान और भारत दोनों देशों में बेकारी का पैदा होना और (जैसा कि पिछले अध्यायों में समझाया गया है) जितनी कि सौर शक्ति कल-बल में कुल मिलाकर लगी उसके मुकाबिले में उसकी वास्तविक अत्यधिक कार्य्य की अयोग्यता,—यह दोनों भी पातक † ही हैं।

"साधारण मनुष्य की दृष्टि से जो लाभकर समझा जाता है, उसमें स्वभावतः ऐसी भारी हानि हो सकती है जो कभी पूरी नहीं की जा सकती। और काल पाकर यही हानि सारे राष्ट्र वा सारी

❀See A.N. Whitehead—*Science and the Modern World*, Cambridge University press, 1926 and J. C. Bose—*Plant autographs and their Revelations*, Longmans Green London, 1927,

† "पातक' शब्द का अर्थ है गिराने वाला। जो कर्म्म मनुष्य का किसी तरह का पतन करावे, वही पातक कहला सकता है। उल्थाकार।

जाति को भारी चोट पहुँचा सकती है। समस्त मानव-जाति के सामूहिक कल्याण के लिए जातिमाता प्रकृति के प्रति भी मनुष्य के कर्त्तव्य हैं, और इन कर्त्तव्यों में यह भी शामिल है कि भूतल पर जितने पदार्थ प्राप्त हैं उनका सामाजिक उपयोग करे और उनसे सामाजिक सन्तोष प्राप्त करे। इसी उपाय से जाति की एकता के इस ऊँचे आदर्श का पालन हो सकता है कि प्रत्येक मनुष्य धरातल के सार्वजनिक रत्नों का और मनुष्य जाति के सत्कर्म्म के फलों का उपभोग करे।" *

"यदि वर्त्तमान सभ्यता को स्थायी होना मंजूर है तो उसे अपनी शक्ति के बजट का नाम-जमा बराबर रखना सीखना होगा और जल-वायु और सूर्य्य की अक्षय्य निधि से उतना बल धन बराबर लेते रहना होगा, जितना कि उसे खर्च करने की जरूरत पड़ा करती है।" †

यह बहुत संभव है कि चीन और भारत की सभ्यता जो बहुत काल से बराबर स्थायी चली आयी है उसका कारण यही है कि और सभ्यताओं की अपेक्षा यह दोनों देश शक्ति का इसी प्रकार का सामंजस्य अधिक रखते हैं, अथवा प्रकृति माता से इनकी समजीविता अधिक घनिष्ठ है और साथ ही शायद यह

---

* R, Mukerjee—*Principles of Comparative Ecconomics*, P,S. King & son. London, 1921, vol. Ip,p, 88 et seq.

† Tyron and Mann—chap-*VIII* of *Population Problems*, ed by D ublin, above cited,

भी हेतु है कि इन देशों में जगह-जगह पर बँटे, छोटे पैमाने पर काम करने वाले और जरा ढिलाई के साथ एकता में बँधे आर्थिक और सामाजिक संगठन सदा से चले आये हैं । अर्थशास्त्र के विषय में भी संभव है कि अमेरिका और युरोप को यह मालूम हो कि उन्हें जम्बूद्वीप (एशिया) से अभी बहुत कुछ सीखना है ।❀

❀See F, H. King—*Farmers of Forty Centuries*, Harcourt Brace & co. New york, 1927.

परिशिष्ट (च)

पूरब-पच्छिम के भावी-सम्बन्ध के दो पक्ष

जम्बूद्वीप (एशिया) के हर भाग में पूरबी-पच्छिमी दोनों संस्कृतियों के मिलने और अंशतः एक हो जाने से ढेर की ढेर समस्यायें उत्पन्न हो गई हैं। इस परस्पर के संस्पर्श में जितने अन्याय, जितने अत्याचार और जितनी भूलें हो गई और हो रही हैं, उनका वर्णन और उनपर रोष और खेद प्रकट करना सहज है। परन्तु इस पुस्तक में इन बातों के लिए स्थान नहीं है।

इस स्थिति से यह समय बड़े ही विपत्तियों का युग हो जाता है; परन्तु इतिहास बतलाता है कि इस तरह के मेल में जहां दोनों पक्ष बलवान हों और परस्पर के सद्गुणों, सद्भावों और जीवन के स्थायी अवयवों का चुनाव और संयोग हो, तो परिणाम-रूप से उन दोनों से अधिक अच्छी और बलशाली सभ्यता का जन्म होता है।

पूरब के हों या पच्छिम के, मानव समाज के सभी हितैषी अपने अपने राष्ट्रों के दोषों को और मलिनताओं को धोकर बहा देना चाहते हैं, भूलों को शोधना चाहते हैं और अधिक उज्वल भविष्य की ओर बढ़ना चाहते हैं। इन दो बड़ी संस्कृतियों में से प्रत्येक यह विश्वास करती है कि हमारे पास कोई महत्व की उत्तम वस्तु है जो दूसरी को चाहिए। कितना ही विरोध हो,

कितना ही रोष हो, कितनी ही घृणा हो, और कितना ही गर्व हो, अपनी अपनी भीतरी दुर्बलता को प्रत्येक संस्कृति जानती है, परन्तु उसे सन्देह इस बात में है कि दूसरी उससे बच सकेगी या नहीं।

पूरब-पच्छिम दोनों के लिए समस्या यह है कि हम दूसरे की भूलों से कैसे बचें ? दूसरे के अनुभवों के कौन अंश व्यापक रूप से ठीक हैं ? हम उनका उचित चयन और प्रयोग किस प्रकार करें कि हमारे परम्परा प्राप्त इष्ट गुणों को बिना नष्ट किये वह अनुभव हमारी संस्कृति का अंग हो जायँ ?

समालोचकों का एक वर्ग तो विश्वास करता है कि पच्छाहीं सभ्यता अब धीरे-धीरे क्षीण हो रही है। यह बात सच है या नहीं, यह प्रश्न शायद अन्तिम और परम महत्व का प्रश्न नहीं है, क्योंकि अन्ततः सभ्यतायें और संस्थायें भी तो सामूहिक स्वभाव हैं और स्वभाव में कितने ही परिवर्त्तन हों, मनुष्य-समाज तो आगे बढ़ता ही जाता है और प्रत्येक समूह की अच्छी से अच्छी उपलब्धि नष्ट भी नहीं होती। बल्कि बात यह है कि जब मानव-समाज की आत्मा अपनी अत्यन्त शीघ्र बाढ़ से अथवा अपने पार्थिव कोश का लचीलापन खो कर कड़े हो जाने से घबरा जाता है तो आत्मा के बने रहने के लिए कोश का नष्ट होना ही आवश्यक होता है। "जब तक गेहूँ का एक दाना धरती पर गिर कर मर नहीं जाता, अकेला पड़ा रहता है और जब मर जाता है तब अनेकों को पैदा करता है।" उदाहरण के लिए प्राचीन यूनान के ही आत्मा पर विचार कीजिए। रोमक साम्राज्य मिट गया; परन्तु जिन लोगों को मिलाकर रोम-साम्राज्य बना था, वह

तो आज भी जीवित हैं और हाथ पाँव फेंक रहे हैं । इसलिए बहुत बड़ा प्रश्न यह है कि प्रत्येक सभ्यता कौनसी सर्वोत्तम वस्तु शेष संसार को और भविष्य को दे सकती है ?

पच्छिम को पूरब से बहुत कुछ सीखना है—इतना कुछ कि जिसकी अभी उसे स्वप्न में भी कल्पना नहीं हुई है। परन्तु मैं उसपर विचार करने की योग्यता नहीं रखता।

पूरब और पच्छिम दोनों के बहुत से लोग विश्वास करते हैं कि पूंजी पर निर्भर औद्योगिकता और वाणिज्य भूल है और जम्बूद्वीप के किसी भाग को अपनी संस्कृति में उन्हें मिला लेना उसके लिए भला नहीं है। इस पुस्तक का लेखक भी इन्हीं लोगों में है। तो भी वह समाज सत्तावाद को नहीं मानता, चाहे उसके उद्देश्य कैसे ही हों। परन्तु बहुतों का विश्वास है कि कुछ प्रयोगों को अपवाद मानकर हम कह सकते हैं कि विज्ञान इस संसार के लिए एक मूल्यवान रत्न है और सभी संस्कृतियों और सभ्यताओं को चाहिए कि उसे अपनावें। हां, साथ ही उसपर कुछ अधिकार भी रक्खें और उसका संस्कार भी करते रहें। ऐसे सुधार और संस्कार अरविन्द घोष के दर्शन शास्त्र से, रवीन्द्र ठाकुर के काव्य और संगीत से, गांधीजी के विनय और प्रेम से, और चीनियों और जापानियों के उन गुणों से प्राप्त हो सकते हैं, जो वह संसार को दे सकें। अर्थात् विज्ञान के सिवा उसकी सहायता के लिए आवश्यक है कि मानसिक, चारित्रिक, भावात्मक और आध्यात्मिक अवस्थाओं को अधिक सूक्ष्मता और अधिक गंभीरता से और अधिक पूर्ण सर्वतोभाव एकीकृत

दृष्टि से देखा जाय और नित्य के जीवन की एक-एक बात में, एवं आचारण में उन्हें व्यवहृत किया जाय।

पिछले कुछ ही बरसों में, परम्परा-प्राप्त वैज्ञानिक उन्नति की शृंखला में अन्तिम काम करने वाले ऐन्स्टैन, वेइल, एडिंग्टन, ह्वैटहेड, रसेल, हालडेन और बोस आदि के कामों से विज्ञान का झूठा अभिमान अधिकांश मिट गया है, उसका पदार्थ-वाद बहुत-कुछ धुल गया है, उसकी दृष्टि विशाल और विस्तृत हो गई है, उसका भाव अधिक मनुष्योचित्त और सहिष्णु हो गया है और अब वह काव्य, कला, धर्म्म और परमार्थ-वाद की सचाइयों को मानने के लिए तैयार है।*

विज्ञान की आज की प्रवृत्ति और स्थिति भारतवर्ष के लिए उसे पहले की अपेक्षा अधिक ग्राह्य बनावेगी। बल्कि हाल के

---

*See A.N. Whitehead, *Science and the Modern World*, Cambridge Univ. Press, 1926, G.N. Lewis, *The Anatomy of science*, Tale University Press, New Haven, U.S.A. 1926, A.S. Eddiington, *Space Time and Gravitation*, Cambridge Uuiv. Press 1923 Mogan, *Emergent Evolution* and *life Mind & Spirit*; J.W.N. Sullivan *Aspects of Science 2nd Series*, Collins,, London 1926; also his Tyranny of science, Kegan Paul, London, J. C. Bose, *Plant Autographs and their Revelations*, Longmans Green, London, 1927; J. Arther Thompson, *Outline of Science* J. P. Putnam's Sons, London, 1922; H. Poincare, *Science & Method*.

गणितात्मक भौतिक शास्त्र के कुछ दार्शनिक निष्कर्ष तो उप-निषदों के प्राचीन ऋषियों के विचारों से अद्भुत रीति से मेल खाते हैं।

परन्तु यह देखकर कि भारत के बहुत से सुन्दर विचारक विज्ञान की उपयोगिता को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, हम यहां भारत के एक स्पष्ट निरीक्षक और गंभीर विचारक के वाक्य इस सम्बन्ध में उद्धृत करते हैं। मेरे विचार में "पदार्थवाद" पर श्री अरविन्द घोष का लेख इस विषय पर सर्वोत्तम है। उसमें वह एक जगह कहते हैं—

"इसके फलों की निष्पक्ष भाव से जाँच कीजिए। इसने मानव ज्ञान की पूर्त्ति की है और विस्तार को अत्यन्त बढ़ा दिया है, इसने मानव-जाति को बान लगादी कि धैर्य से और बारीकी से और यथार्थता से खोज किया करे,—यदि उसने यह सब केवल एक क्षेत्र के लिए किया है, तो भी और ऊँचे क्षेत्रों में भी उसी ज्ञान-बल, बौद्धिक ईमान्दारी, और कुतूहल के प्रसार के लिए तैयार भी तो कर दिया है,—इसने अनुपम शक्ति और आविष्कार के प्राचुर्य्य के साथ,—केवल बुराइयों के लिए नहीं, बल्कि भलाइयों के लिए भी,—वह-वह आविष्कार, औजार, व्यावहारिक बल, जीत और सुभीते दिये जिनका परित्याग करने को कोई तैयार नहीं है, यद्यपि हम सभी यह कहते हैं कि यह सब के सब परमार्थ साधन में काम में नहीं आते। इस पदार्थवाद ने इतना ही सब नहीं किया

---

‡ In a pamphlet entitled *Evolution*, Pubished by Sart Chandra Guha, Arya Publishing House, College Street, Market Calcutta.

है। इसने एक बात ऐसी भी की है जो पहले देखने में बिल्कुल उलटी-सी लगती है—इसने मनुष्य के आदर्शवाद को भी पुष्ट कर दिया है। सारांश यह कि इसने मनुष्य-स्वभाव को अधिक मधुर आशा दिलाई है और उसमें मानवोपयुक्त दयाशील समझदारी बढ़ादी है। सहिष्णुता आज बढ़ी हुई है, स्वतन्त्रता अधिक हो गई है, उदारता अब अधिक स्वाभाविक होगई है और शान्ति यदि अभी व्यवहार-साध्य नहीं है, तो कम से कम धीरे-धीरे कल्पना में तो आने लगी है।

"मानवता ही सबसे बड़ी देवता नहीं है। परमात्मा मानवता से बड़ा है। परन्तु मानवता में भी हमें परमात्मा को खोजकर उसकी सेवा करनी है। मानवतावाद का अर्थ है, नित्य बढ़ती रहने वाली दया, सहिष्णुता, उदारता, सेवा, घनिष्ठता, सार्वभौम भाव, एकता, व्यक्ति और समष्टि की वृद्धि, और इन सब की ओर जितनी तेजी से हम बढ़ते जाते हैं उतनी पहले किसी युग में संभव न थी, यद्यपि आज भी दुःख है कि कभी-कभी पाँव लड़खड़ा जाते हैं और भयानक भूलें हो जाती हैं।"

"उन्नति मानव जीवन के वास्तविक भाव का अन्तर्हृदय है क्योंकि इसका परिणाम यह है कि हमारा विकास अधिक महान और सम्पन्न प्राणी के रूप में हो जाय।......बाहरी प्रगति ही उसके उद्देश्य का अधिक अंश था। परन्तु भीतरी प्रगति अधिक आवश्यक थी। परन्तु भीतरी भी पूर्ण नहीं होती यदि बाहरी का बिलकुल ध्यान ही छोड़ दिया जाय। यदि हमारी प्रगतिशीलता कुछ काल के लिए एक ही क्षेत्र में बढ़ने के लिए मर्य्यादित हो जाय, तो भी आगे बढ़ना हर तरह से सहायक होता ही है और

उसकी सीमा वहां होनी चाहिए जहां हमारी सत्ता के अधिक ऊँची या अधिक गम्भीर अवस्था में पहुँचने में और उन्नति करने में वह अधिक शक्ति पहुँचा सके, विस्तृत भाव ला सके।...... निस्सन्देह यहां भी भीतरी मुक्ति अत्यावश्यक है, परन्तु यदि अन्तर्ज्ञान के बिना स्वतन्त्रता के बाहरी प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हों, तो भी भीतरी स्वतन्त्रता के लिए यत्न करते रहना और बाहरी दास्य को स्थायी रखना, या अपनी मुक्ति पर सन्तुष्ट हो रहना और मानव जाति को बन्धन में पड़े रहने देना भी ऐसी विरोधी बातें हैं, जिन को ध्वंस करने की आवश्यकता है, क्योंकि ऐसा आदर्श बहुत संकुचित और अत्यन्त स्वार्थमूलक है।"

"विज्ञान यथार्थ ज्ञान अवश्य है, परन्तु अन्ततः यह केवल प्रक्रियाओं का ही ज्ञान है। और प्रक्रियाओं का ज्ञान भी तो सम्यक् ज्ञान का एक अंश ही है और अधिक गम्भीर भीतरी सत्य के पास पहुँचने के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए अत्यावश्यक है। ......अब हम यह समझ सकते हैं कि जो ज्ञान की सीमा उसने आप बनाई थी उसके और अधिक प्रसार होने से विज्ञान का अपने आपे से ही छूट निकलना अनिवार्य्य था।"

"मनुष्य को तो अपने सभी पार्थिव पक्षों में दृढ़ता से विकास करना ही पड़ेगा, अपने शरीर, अपने जीवन और अपने बहिर्गामी मन को पूर्ण और सब दिशाओं से सुरक्षित करना ही पड़ेगा, अपने निवास स्थान इस पृथ्वी को पूर्णतया अपने अधिकार में लेना ही पड़ेगा, अपने भौतिक स्वभाव को पूर्णतया जानना और काम में लाना पड़ेगा, अपने निमित्त वा परिस्थिति को सुसज्जित करना ही पड़ेगा, और अपने बढ़ते हुए शारीरिक, मानसिक,

और जीवनात्मक सत्ता को साधारण निष्कर्षों से काम लेने वाली बुद्धि के सहारे सन्तुष्ट करना ही पड़ेगा । परन्तु इतने से ही उसकी आवश्यकताओं का अन्त नहीं होता। किन्तु यह सभी कर्तृत्व मनुष्य की पूर्णता और उसके इष्टों के आरंभिक और बड़े अंश हैं। उसका पूरा तात्पर्य पीछे समझ में आता है, क्योंकि आरम्भ में और देखने में यह जीवन का आवेग मात्र होगा, परन्तु अन्त में और वास्तव में यह आत्मा का एक अभीष्ट होगा और अधिक परमार्थिक जीवन के लिए उपयुक्त परिस्थिति की तैयारी होगी। मनुष्य यहां धरती पर भगवान् के आदेशों की ओर मनुष्य में ईश्वरता की पूर्ति के लिए आया है, और उसे न तो धरती से घृणा उचित है और न ईश्वरता के पहले बल और अधिकार के आधार को अस्वीकार करना उचित है।

विज्ञान की आवश्यक कट्टर रीतियों में बराबर लगे रहते—चाहे उसके शुद्ध भौतिक औजारों में वस्तुतः न लगे हों,—ध्यान से अनुशीलन करते, परीक्षायें करते, और जो कुछ ठीक-ठीक बारीकी से और व्यापक रीति से पूर्णतया जँच न सके उसे कदापि सिद्ध न मानते हुए भी हम पराभौतिक तथ्यों तक अवश्य ही पहुँचेंगे।

शताब्दियों की पार्थिवता के श्रम का फल तीन चीजें रह जायँगी। एक तो भौतिक संसार की यथार्थता और महत्व, दूसरे ज्ञान की वैज्ञानिक रीति,—अर्थात् प्रकृति और सत्ता का अपने अस्तित्व और गति को प्रकट करने के लिये राजी किया जाना, और उनपर अपने ही अध्यारोप को लादने की उतावली न करना,—और तीसरे, उतने ही महत्व की बात है पार्थिव

जीवन का महत्व और सत्य और मानव उद्योग, जो कि उसका विकासात्मक अर्थ है। यही रह जायँगे परन्तु यह दूसरी ही दिशा में प्रवृत्त होंगे और अधिक भारी और महत्व के परिणाम प्रकट करेंगे। उस समय हमें अपनी आशा और श्रम के परिणाम के सम्बन्ध में अधिक निश्चय होगा और हमें देखने में आयेगा कि वह सब के सब अधिक विस्तृत और अधिक घनिष्ट आत्मज्ञान और सृष्टिज्ञान में परिणत हो गए।"

परिशिष्ट (छ)

पूँजीवाद का एक संभाव्य रूपान्तर

ब्रिटेन के अर्थशास्त्रियों में बड़े नामी, *The Economist* और *The Nation & Athenaeum* नाम के पत्रों के सम्पादक श्री जे. एम्. कीन्स *The end of Laissez Fuir* * नाम की पोथी में यों लिखते हैं—

"जहां तक मेरा खयाल है, यदि बुद्धिमानी से काम लिया जाय तो अब तक जितनी और पद्धतियां पूँजी-वाद के बदले दिखाई दे रही हैं, उनकी अपेक्षा पूँजीवाद आर्थिक उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए अधिक कार्य्यक्षम बनाया जा सकता है। हां, स्वतः पूँजीवाद कई बातों में अत्यन्त आपत्तिजनक है। हमारी समस्या यह है कि हम एक ऐसा सामाजिक संगठन तैयार करें जो हमारे सन्तोष जनक जीवन वृत्ति की कल्पनाओं को बिना धक्का पहुँचाये भरसक अधिक से अधिक कार्य्यक्षम हो सके।"

"बढ़ने के लिए अगला कदम विचार से आना चाहिए, राजनैतिक आन्दोलनों और कच्चे प्रयोगों से नहीं। हमको अपने मन पर ज़ोर देकर अपने भावों को अच्छी तरह समझना चाहिए। अभी तो हमारी सहानुभूति और हमारा विवेक सम्भव है कि भिन्न दिशाओं को जायँ, जो कि मन की बड़ी पीड़ा जनक और स्तब्धकारी दशा है। कार्य्यक्षेत्र में सुधारक तबतक सफल न

---

* The Hogarth Press, London, 1926.

होंगे, जब तक वह अपने भावों और बुद्धियों को सहगामी बना कर एक स्पष्ट और सुनिश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के पीछे न पड़ सकेंगे। संसार में आज मुझे कोई ऐसा दल नहीं देख पड़ता, जो ठीक उद्देश्यों के लिए यथार्थ रीति से ही यत्नवान् हो। ठीक ऐसी स्थितियों में जहां परीक्षा करने की गुंजाइश ही नहीं है, पार्थिव दरिद्रता हेर-फेर करने के लिए प्रवर्त्तिका हो जाती है। और जब भाग्य की बाज़ी लगानेका मौक़ा रहता है तब उस समय पार्थिव समृद्धि उस प्रवृत्ति को हटा देती है। इस सम्बन्ध में आगे बढ़ने के लिए यूरोप के पास साधन नहीं है और अमेरिका के पास इच्छा नहीं है। हम को कुछ नये सिरे के विश्वासों की जरूरत है जो बाहरी तथ्यों के सम्बन्ध में हमारी अपने आन्तरिक भावों की उदार और निष्पक्ष जांच से स्वभावतः उत्पन्न होते हैं।"

मेरे निकट श्री कीन्स की ऊपर मान ली हुई बात, कि पूंजीवाद का बुद्धिमत्ता से प्रयोग हो सकता है, आदि से अन्त तक असम्भव मालूम होती है। श्री कीन्स पूँजीवाद के सिद्धान्त की स्वयं यों परिभाषा करते हैं—"आर्थिक यंत्र को चलाने वाली मुख्य शक्ति व्यक्तियों की धन कमाने की और धन के मोह और लोभ की वृत्तियां हैं। इन्हीं वृत्तियों की गहरी उत्तेजना पर निर्भर रहना ही पूँजीवाद का सिद्धान्त है।" परन्तु यह सिद्धान्त ही मनुष्य जाति की भौतिक और नैतिक एकता के विपरीत है। यही बात है कि पूँजीवाद हमारे दिलों को दुखाता है, जैसा कि ऊपर के अवतरण में श्री कीन्स स्वीकार करते हैं। जो आन्तरिक भाव में ही झूठ है, उसका बन्दोबस्त बुद्धिमानी से नहीं हो सकता।

परन्तु यह मुझे बहुत सम्भव दीखता है कि थोड़ा-बहुत गांधी

जी का कार्य्यक्रम और साथ ही जगह-जगह बँटी हुई छोटे पैमाने की सामाजिक और आर्थिक टुकड़ियां, जो आजकल के राज्य की पद्धति से भिन्न आधार पर संगठित और एकीकृत हों, शायद अगले क़दम के बढ़ाने के लिए अच्छा आधार सिद्ध होजायँ। श्री कीन्स को अपने कार्य्यक्रम में "भावों को और बुद्धियों को सहगामी बनाकर एक स्पष्ट और सुनिश्चित उद्देश्य की प्राप्ति के पीछे पड़ जाना" सम्भव मालूम होता है। इस पुस्तक में उन बाहरी तथ्यों का वास्तविक तात्पर्य समझाने की मैंने कोशिश की है, जिन तथ्यों का गांधी जी के और शायद हमारे भी भीतरी भावों से सम्बन्ध होने के फल-स्वरूप उनके, और हमारे भीतरी भावों के लिए भी नये सिरे के विश्वास मिले हैं, और, जैसा कि श्री कीन्स समझते हैं; दूसरों को भी ऐसे नये सिरे के विश्वास मिल जायँगे। एक उदाहरण लीजिए—संसारके प्राचीन इतिहास में कहा जाता है कि पहले जलचरों के शरीर में फेफड़े नहीं थे और वायु में धरती पर रहने के साधन उनके शरीर में नहीं पैदा हुए थे। जब उनसे अधिक बलवान् शत्रु उनपर हमले करने लगे तो निराशा में घबरा कर उन्होंने स्थल पर रहना आरम्भ किया और उनके शरीर में फेफड़े आदि वायु में रहने के साधन पैदा होगये। ठीक उसी तरह से यह बहुत संभव है कि भारत में भी लोग दरिद्रता से इतने घबरा जायँ कि संसार के लिए पहले की अपेक्षा अधिक ऊँचे आर्थिक और सामाजिक जीवन के लिए एक नये ढंग और नयी रीति का आविष्कार करें।

———

परिशिष्ट (ज)

कार्य्य-क्षमता पर एक वक्तव्य

पच्छाहीं कल-कारखाने के उपज के पक्षपातियों ने यह अनुरोध किया है कि हाथ के उपज से उसकी अधिक चोखाई बल के अधिक व्यय होने में उतनी नहीं है, जितनी कि बल को काम में लाकर अधिक कार्यक्षमता दिखाने में है।

कार्यक्षमता के प्रश्न पर इस पुस्तक में कई जगह विचार हुआ है। परन्तु इस समीक्षा के उत्तर पर अधिक जोर देने के लिए संक्षेप से उसे दुहरा देना अच्छा ही होगा।

मैंने यह स्पष्ट कर देने की कोशिश की है कि माल की तैयारी में जितनी सारी बल-मात्रा लगती है—लुढ़ाई में, कल-कारखाने के ठीक करने में और भारी पैमाने पर चलनेवाली कलों को कारखाने के अन्दर खड़ी करने इत्यादि में—जब सब का हिसाब कर लिया जाता है, तब पूरब में जिन हाथ की छोटी-छोटी कलों का प्रचार है, यंत्रशास्त्र की दृष्टि से, उनकी अपेक्षा कल की कार्यक्षमता कम ही ठहरती है। आगे चलकर मैंने लिखा है कि वास्तविक प्रश्न केवल मात्रिक कार्यक्षमता का नहीं बल्कि आर्थिक कार्यक्षमता का अधिक है। इस सम्बन्ध में श्री चेस ने अपनी The Tragedy of Waste नाम की पुस्तक में, जिसका हवाला पिछले पृष्ठों में हुआ है, यह दिखाया है कि संयुक्तराज्यों में उपज, बँटाई और खपत में कितना भारी धनक्षय,

होता है। शायद और पच्छांहीं देशों में भी अधिकांश यही दशा है। इसके सिवा यह भी समझ लेना चाहिए कि पच्छांहीं आर्थिक ढंग और रीतियों से—अधिकांश वेग बड़ा पैमाना, मजूरी की किफ़ायत, मजूरी में विशेष दक्षता, आदि कारणों से—व्यक्तिगत और सामाजिक गुणों का बहुत कुछ ह्रास और हानि हुई है जिसके प्रमाण दरिद्रालय हैं, अत्यधिक घंटों तक फंसाव और तंग जगहों में अधिक आदमियों के रहने से स्वास्थ्य का नाश है, साधारण देहाती जीवन का तहस-नहस हो जाना है, बेकारी है, हड़तालें हैं, वर्ग-विरोध हैं, राष्ट्रीय व्यापारी चढ़ा-ऊपरी और लड़ाइयाँ इत्यादि हैं।* आर्थिक कार्यक्षमता की यथार्थ अटकल के लिए इन प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष आर्थिक सुभीतों पर जैसे विचार किया जाता है वैसे ही हानियों पर भी विचार करना होगा।

जब इन सभी हेतुओं पर ठीक-ठीक विचार कर लिया जायगा, तब पच्छांहीं के इन दावों को कि हमारी कार्यक्षमता अधिक ऊँचे दरजे की है, बहुत-कुछ बदलना और सुधारना पड़ेगा पूरब अपनी कार्यक्षमता बहुत-कुछ बढ़ा सकता है, परन्तु इस समय भी उसे हतोत्साह होने का कोई कारण नहीं है।

---

* See also G. Ferrero—Ancient Rome & Modern America. *G. P. Putname and sons, London*

परिशिष्ट (फ)

भारत में हाथ की कताई बुनाई और खद्दर आन्दोलन के सम्बन्ध का साहित्य

(केवल अंग्रेज़ी की पुस्तकों का ही ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है। इस सूची में हिन्दी में केवल उपलब्ध उल्थाओं के नाम दिये गये हैं। शेष के उल्था न होने से अंग्रेज़ी ही नाम दिये गये हैं। उल्थाकार)

PUBLISHED BY INFORMATION DEPARTMENT, ALL INDIA SPINNERS ASSOCIATION, SATYAGRAHASHRAM, SABARMATI B. B. & C. I. Ry

1. *Khaddar Work in India in 1922. Report* by *Khadi Department of all India Congress Committee*
2. *Khadi Bulletins, 1923.*
3. *Report of all India Khadi Board, 1924.*
4. *All India Khadi Guide*, June 1925.
5. *A Khadi Tour, 1924.*
6. *Report of all India Khadi Board Work*, by all India Spinners' Association for 1924-25.
7. *Khadi Guide*, August 1925.
8. *Report of all India Spinners' Association for 1925-26.*
9. *Charkha Shastra*, Part I, by Maganlal K. Gandhi. (translated from the Gujerati)

चरखा शास्त्र, लेखक स्व० मगनलाल गांधी, सत्याग्रह आश्रम, साबरमती।

10. *Hand:Spinning and Hand- Weaving* an essay. by S. V. Puntambekar and N. S. Vardachari, 1926

१०. हाथ की कताई-बुनाई, सस्ता मंडल, अजमेर।

11. *The Takli Teacher*, by Maganlal K. Gandhi and Richard B. Gregg, 1926.

PUBLISHED BY KHADI PRATISTHAN, 15, COLLEGE SQUARE, CALCUTTA.

1. *Khadi Manual*, Two vols. by Satis Chandra Das Gupta, 1924.
2. *Messege of Khaddar*. by Sir P. C. Ray. Address at the opening of Khadi Exhibition at Coconada, 1923. (pamphlet).
3. *Charkha* by Satis Chandra Das Gupta Introduction by Sir P. C. Ray. (pamphlet).
4. *Deshi Rang* by Sir P. C. Ray. (Indigenous dyes and dying).

४, देशी रंग—ले० सर प्रफुल्ल चन्द्रराय, खादी प्रतिष्ठान, बहू बाजार स्ट्रीट, कलकत्ता।

BY PRIVATE PUBLISHERS.

1. *Young India 1919-1922*, and Supplements to 1926. A very full collection of leading articles from Mr. Gandhi's paper of that name, including many special articles on

hand-spinning, hand-weaving, charkha, and the khaddar movement. Publisher S. Ganesan' Triplicane, Madras.

2. *The Wheel of Fortune,* by Mahatma Gandhi. 1922. Selected articles from Young India. Ganesh and Co., Madras.

3. *Art and Swadeshi,* by A. K. Coomaraswami Ganesh and Co., Madras.

PUBLISHED BY INDIAN PROVINCIAL OR STATE GOVERNMENTS.

1. Bihar and Orissa. Superintendent of Government Printing, Bihar and Orisa, Patna.
   (a) Bulletin No. 2. A *Nate on Hand-loom Weaving in India.* by K. H. Rao
   (b) Bulletin No. 3. *Proceedings of the Conference of Director of Industries and Textile Experts and Assistants.*
   (c) Bulletin No. 8. *The Hand:Spinning of Cotton,* by K. S. Rao.
   (d) Bulletin No. 9. *A Warping and Sizing Set Suitable for Cottage Weavers,* by K. S. Rao.
   (e) *A Second Note on Hand-Loom Weaving in India* by K. S. Rao.

2. Bombay Presidency. Superintendent, Government Printing and Stationery, Bombay.
   (a) *Notes on the Indian Textile Industry with Special Reference to Hand-Weavin* by R. D. Bell.
3. Madras Presidency. The Superintendent, Government Press, Mount Road, Madras, S.C
   (a) Department of Industries Bulletins.
   No. 17. *Pattern Weaving.*
   No. 20. *Solid Border Slays.*
   New Series.
   No. 15. *Blanket Industry in the Ceded Districts of the Madras Presidency,*
   No. 16, *Woolen Pile Corpet Industry,*
   No, 21. *Development of Cotton Printing and Painting Industry.*
   No. 22, *Development of the Madras Handkerchief and Lungy or Kaily or Industry.*
   (b) *Monograph on the Carpet Weaving Industry of South India* by H. T. Harris, 1908.
   (c) *Cotton Painting and Printing in the Madras Presidency* by W. S. Hadaway. 1917.

(d) *Handloom Weaving in the Madras Presidency*, by D. M. Amalsad, 1925

Bengal. Bengal Secretariat Book Depot, Calcutta.

(a) *A Srmmary of the Cottage Industries in the Districts of Bengal, 1923.*

(b) *Report on the Survey of the Cottage Industries of Bengal 1924.* (Out of stock).

(c) *Supplementary Report on the Survey. of Cottage Industries in Bengal for the Discricts of Mymensingh, Nadia* and *Faridpur.*

(d) *Technical and Industrial Instruction in Bengal, 1888-1903.* by J. C. Cumming. Part II of Special Report gives a general review of all factory, manufacturing, mining, artistic, and economic industries in Bengal.

MISCELLANEOUS PUBLICATIONS.

1. *Young India* edited by M. K. Gandhi, Published by Swami Anand, Navajivan Press,

Saıkhigarani Vadi, Sarangpur, Ahmedabad. A weekly journal.

2. *The Charkha Yarn*, by Muntazim Bahadur V. A. Talcherkar, 1925, Published by the author. Topiwala's Mansions, Sandhurst Road, Bombay, 4.
3. *The Basis for Artistic and Industrial Revival in India*, by E. B. Havell, Publ. by The Theosophist Office, Adyar, Madras, 1912.
4. *The Bengal Civil Service and the Cottage Industries of Bengal* by Mukhrjee. Calcutta University Press, 1927.
5. *The Indian Craftsman*, by A. Coomaraswamy
6. *Hand Loom Weaving*, by H. H. Ghose. R. Combray and Co., College Square, Calcutta. 1906.
7. *The Advancement of Industry*, by H. H. Ghose. One chapter on hand-loom weaving. R. Combray and Co., 1910. Calcutta.
8. *Art Manufactures of India*, by T. N. Mukherjee.
9. *Industrial Arts of India*, by Sir G. Birdwood. 1880.
10. *Arts and Manufactures of India*, by Dr. J. F. Royle, A Lecture on the Results of

the Great Exhibtiion of 1851, First Series.

11. *Survey of the Customs and Textile Manufactures of India*, by Forbes Watson.

12. *Industrial Evolution of India*, by D. R. Gadgill, Oxford Univ-Press, 1924, some pages on textiles.

13. *Economics of Khadi*, by Rajendra Prasad, Published by the Secretary Bihar Charkha Sangha, Muzaffarpur, Bihar, 1927.

14. *Catalogues issued*, by various Khadi Sale Depots.

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालाएँ प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र-निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ़ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्राम-संगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) उपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फ़ीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें इन्होंने पहले से ही ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्य्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≡) सर्वसाधारण से ॥।)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १३२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है । पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है ।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी । प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥।) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥।-)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ । पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें ? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है । विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २६६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० -)॥। ग्राहकों से -)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ॥) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश—पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार—पृष्ठ १५४ मू०।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड़ एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे ज़माने की गुलामी (टाल्सटाय) पष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १२० मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू०॥) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग) पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥-) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ २०० मू० ॥) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ट सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पष्ठ २०८ मू० ॥) ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्म्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारत-वासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ ३६६ मू०॥=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १७९२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं

नोट—सस्ता-मंडल से प्रकाशित सस्ती हिंदी पुस्तकों की सूची अन्दर छपी हुई है।